



मानव अधिकार पत्रिका

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष 2014

अंक - प्रथम

संरक्षक

जस्टिस ए.के. सक्सेना
कार्यकारी अध्यक्ष

वीरेन्द्र मोहन कँवर
सदस्य

विनोद कुमार, सचिव
ए.के. जैन, अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक
एच.के. दुबे, रजिस्ट्रार (लॉ)

प्रकाशक

कुलदीप जैन
उपसचिव

सम्पादक

रोहित मेहता
संयुक्त संचालक, जनसम्पर्क

सह सम्पादक

संजय कुमार विश्वकर्मा
शोध अधिकारी

सम्पर्क

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग
पर्यावास भवन, अरेरा हिल्स,
पुरानी जेल पहाड़ी मार्ग, भोपाल (म.प्र.)
फोन : 0755-2572034
फैक्स : 0755-2574028

E-mail : mphrc@sancharnet.in

Website : www.mphrc.nic.in

मानव अधिकार पत्रिका

प्रथम अंक

वर्ष : 2014



मानव अधिकार पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं,
यह जरूरी नहीं कि आयोग उनसे सहमत हो।



**पत्रिका में प्रकाशित आलेखों का पुर्नप्रकाशन आयोग
का संदर्भ देते हुए किया जा सकता है।**



इस बार...

अनुक्रमणिका

क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
1. अपराध कम कैसे हों?	5
2. विकराल होने जा रहा है जल संकट	7
3. तमिलनाडु का एक आदर्श गांव	9
4. जी-जान से जुटिए, तभी बचेंगी नदियां	11
5. बेहतर चिकित्सा के लिए कानून जरूरी	13
6. जल संकट : संयुक्त राष्ट्र की चेतावनी सुनो	15
7. बच्चों के सपनों को दें परवाज	16
8. अपने यहां भी हैं लाखों गुलाम	18
9. आबादी और विकास का रिश्ता	20
10. घटते जंगल और नष्ट होती जड़ी-बूटियां	22
11. जीने के लिए बचा लो पानी	25
12. सामाजिक उत्तरदायित्व जरूरी	27
13. जनसंख्या वृद्धि और बढ़ती चुनौतियां	28
14. खतरनाक स्तर तक पहुंचता प्रदूषण	30
15. तेजाबी हमलों पर चिंता क्यों नहीं जगती	32
16. मानवाधिकारों के लिए पर्यावरण बचाइए	34



क्र.	विषय	पृष्ठ क्रमांक
17.	दूर नहीं हैं बेकाबू होते जल	36
18.	रस्म अदायगी का एक और सम्मेलन	38
19.	महिलाओं के मानव अधिकारों के संरक्षण के लिये अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास	40
20.	Human Rights Watch Report (India), 2014	47
21.	Environment change may cause acute conflicts	52
22.	Curbing medical negligence ?	54
23.	Can't do without teachers	57
24.	Children In Peril?	59
25.	Potent threat we are overlooking	62
26.	In Search of roti & kapda	64
27.	India's weight of the world moment	67
28.	Can we care more for people when they are alive?	71
29.	A healthy verdict for patient care	73
30.	Many strides in food security	75
31.	Safety in food security	77
32.	India and climate talks imperatives	79
33.	Taking the stigma out of sex crimes	82
34.	Serving the justice needs of the poor	84
35.	Empowerment of Women Through Human Rights Education : An Analysis	87



अपराध कम कैसे हों?

● भानु दवे



अपराधों के स्वरूप में जिस तरह बर्बर अमानवीयता परिलक्षित होती है, उससे मनुष्य के रूप में हमें अपना अस्तित्व नजर आता है और वह निरंतर खतरे की ओर बढ़ रहा है। आखिर ऐसी घोर अमानवीयता के साथ कैसे हम खुद को मनुष्य कह सकते हैं? एक सामाजिक प्राणी के तौर पर हम जिस तरह मानवीय गुणों लक्षणों से लगातार दूर होकर फासिस्ट प्रवृत्तियों का शिकार होते जा रहे हैं, यह चिंता का विषय है। इस भयावह परिदृश्य के निर्माण के लिए जिम्मेदार मौजूद आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पृष्ठभूमि पर किसी की नजर नहीं है। मौजूदा व्यवस्था के पक्षधर किसी व्यक्ति, संस्था संगठन के पास इस बाबत कोई सकारात्मक विचार नहीं है, जो इस भीषण परिदृश्य को सुधारने की दिशा में उपयोगी हो। समय आ गया है कि गंभीर अपराधों को सिर्फ कानून-व्यवस्था का मसला न समझ नीति-नैतिकता एवं सामाजिक मूल्यों का मामला समझा जाए और मनुष्य व मनुष्यता के भीषण पतन के विरुद्ध व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक पुर्नजागरण का बिगूल फूँका जाए।



क | रीब 55-56 वर्ष पहले की बात है, आपने बचपन में एक फिल्म देखी थी। स्कूल के छात्र-छात्राएं सभी अध्यापक महोदय के नेतृत्व में सिनेमा हाल में गए थे। सुबह का विशेष शो था, सरकार द्वारा कन्सेशन होने से करीब चार आने लगे थे। चार आने याने एक रुपये का चौथाई भाग, फिर भी चार आने जुटाने मुश्किल थे। फिल्म का नाम था दो आँखें बारह हाथ और इसका विषय था जेल में अपराधियों का सुधार, हृदय परिवर्तन।

मैं भी अपने अबोधपने में बहुत प्रभावित हुआ था ऐसी फिल्म देखकर और इसका असर मुझ पर हुआ कि मार काट, धूम धडाम की फिल्मों से दूर रहा। मेरा मानना भी ऐसा था कि गंभीर से गंभीर, कुटिल से कुटिल व्यक्ति भी सत्संग पाकर सुधर सकता है। पूर्व आय.पी.एस.

अधिकारी श्रीमती किरण बेदी ने दिल्ली स्थित तिहाड़ जेल में सुधार वादी कई प्रयोग किये हैं।

हमारे समाज में गंभीर किस्म की आपराधिक गतिविधियों की अधिकता को देखते हुए मन में सवाल उठता है कि क्या अपराध व सजा का सिलसिला चलता रहेगा। इसमें कभी कोई परिवर्तन होगा कि नहीं। क्या एक वार अपने जीवन में अपराध मुक्त भारत की कल्पना की जा सकेगी?

अभी हमारे पास रोजनामचा है जिसमें थाने में जा एफ.आई.आर. (प्रथम सूचना रपट) लिखवाते हैं उस पर वकील, जमानत, तारीख पर तारीख वर्षों लम्बे प्रकरण काल कोठरी। इसके सकारात्मक परिणाम नहीं मिल रहे। वस्तुस्थिति तो यह है कि एक असंवेदनशील परिपाटी की



स्कूली शिक्षा के दौर से ही कैरियर का हौवा खड़ा करने के बजाय मनोवैज्ञानिक आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा पर जोर दिया जाए और सिनेमा, टी.वी., पत्र-पत्रिकाओं सहित जिन भी माध्यमों द्वारा मनुष्य की नैतिक रीढ़ पर हमला कर उसे जानवर बना देने का षड्यंत्र रचा जा रहा है, उस पर कठोर अंकुश लगाया जाय।

तरह निरंतर चला आ रहा है। क्षणिक आवेश में किये गए छोटे मोटे अपराध, जबरन फँसा दिए गए मासूम लोग भारतीय जेलों में पेशेवर अपराधियों की कुसंगति में पड़कर गंभीर अपराधों का पाठ पढ़ने लगते हैं। इसमें दो राय नहीं हो सकती कि ये अपराध जीवनयापन के संघर्ष, मौज शौक, यौन आर्कषण के कारण निरंतर बढ़ते ही जा रहे हैं। आजादी के बाद कई कानून बने, संशोधन हुए, कानून व्यवस्था में सुधार हुआ, सुरक्षा बल में विस्तार हुआ परंतु कोई ठोस परिणाम नहीं निकला। परिणाम तो यह निकला कि अधिक जज, अधिक अदालतें, अधिक काल कोठरियां अधिक पुलिस की व्यवस्था की जाय तो परिणाम अच्छे निकल सकेंगे। पुलिस बलों को आधुनिक संसाधनों से सुसज्जित किया जाये। अपराधियों को फास्ट ट्रेक अदालतों द्वारा तुरंत निर्णय कर सजा दी जाए। फिर भी अपराधों की फेहरिस्त बढ़ती ही जा रही है। सत्ता के सूत्रधार या विभिन्न सामाजिक शक्तियां इनके इलाज के तौर पर और भी कठोर कानूनों की खुली वकालत करती नजर आ रही है, परंतु देश में पहले से प्रचलित व्यवस्था के प्रभावहीन हो जाने के मुद्दे पर सब खामोश है।

इन दिनों अपराधों के स्वरूप में जिस तरह बर्बर अमानवीयता परिलक्षित होती है, उससे मनुष्य के रूप में हमें अपना अस्तित्व नजर आता है और वह निरंतर खतरे की ओर बढ़ रहा है। आखिर ऐसी घोर अमानवीयता के साथ कैसे हम खुद को मनुष्य कह सकते हैं? एक सामाजिक प्राणी के तौर पर हम जिस तरह मानवीय गुणों लक्षणों से लगातार दूर होकर फासिस्ट प्रवृत्तियों का शिकार होते जा रहे हैं, यह चिंता का विषय है। इस भयावह परिदृश्य के निर्माण के लिए जिम्मेदार मौजूद आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पृष्ठभूमि पर किसी की नजर नहीं है। मौजूद व्यवस्था के पक्षधर किसी व्यक्ति, संस्था संगठन के पास इस बाबत कोई सकारात्मक विचार नहीं है, जो इस भीषण परिदृश्य को सुधारने की दिशा में उपयोगी हो। समय आ गया है कि गंभीर अपराधों को सिर्फ कानून-व्यवस्था का मसला न समझ नीति-नैतिकता एवं सामाजिक मूल्यों का मामला समझा जाए और मनुष्य व मनुष्यता के भीषण पतन के विरुद्ध व्यापक सामाजिक सांस्कृतिक पुर्नजागरण का विगूल फूँका जाए।

स्कूली शिक्षा के दौर से ही कैरियर का हौवा खड़ा करने के बजाय मनोवैज्ञानिक आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा पर जोर दिया जाए और सिनेमा, टी.वी., पत्र-पत्रिकाओं सहित जिन भी माध्यमों द्वारा मनुष्य की नैतिक रीढ़ पर हमला कर उसे जानवर बना देने का षड्यंत्र रचा जा रहा है, उस पर कठोर अंकुश लगाया जाय।

अब इस निराशा के दौर में किससे उम्मीद करें, अब तो देश के पढ़े लिखे प्रबुद्ध समुदाय को ही अनिवार्यतः कुछ समय इस जटिल राष्ट्रीय समस्या के समाधान के लिए निकालकर एक विराट सामाजिक परिवर्तन की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाने की पहल करना चाहिए, ताकि समाज को नैतिकता के पतन एवं अपराधों के इस दुश्चक्र से मुक्ति मिल सके। वरना आने वाला समय देश के लिए और भी घातक एवं कष्टकारी होगा।

लेखक नीमच में जिला संयोजक (आयोग मित्र) हैं।

□ □ □



विकराल होने जा रहा है जल संकट

• विश्वनाथ सचदेव

देश की बढ़ती आबादी और औद्योगीकरण को आधार माने तो 2025 तक पानी की जरूरत लगभग 1.093 घनमीटर हो जाएगी, जो 2050 में बढ़कर 1.447 घनमीटर हो जाएगी। यानी 2050 से पहले ही जल संकट विकराल रूप ले लेगा। भविष्य में मांग और आपूर्ति के इस भीषण अंतर को पाटना आसान नहीं होगा। यह सबसे बड़ी चुनौती है। आज देश के आवासीय, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र में भूजल के बढ़ते दोहन से पानी का संकट और गहरा गया है।

आ | ज समूचा विश्व गंभीर जल संकट से जूझ रहा है। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार जीवन की इस सबसे अपरिहार्य आवश्यकता को पूरा करने के लिए यदि शीघ्र भगीरथ प्रयास नहीं किए गए तो आने वाले समय में स्थिति और विषम हो जाएगी और हम बूंद-बूंद पानी के लिए तरस जाएंगे। इसका सबसे बड़ा कारण है दिनों-दिन बढ़ती आबादी, जो जल संकट को बढ़ाने में अहम भूमिका निभा रही है। दुनिया में पानी की स्थिति का जायजा लें तो इस बात का खुलासा होता है कि धरती की सतह पर 70 फीसद पानी है जिसमें 97.5 फीसद खारा जल है। ढाई फीसद शुद्ध जल का 68.7 फीसद बर्फ के रूप में, 30 फीसद भूजल व 0.3 फीसद ही सतह पर है। सतही जल का 87 फीसद झीलों में व दो फीसद नदियों में है। दुख इस बात का है कि यह बात जानते-समझते हुए भी हम इस अमूल्य संपदा की कद्र नहीं कर पा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र महासचिव बान की मून ने इस बारे में चेतावनी देते हुए कहा है कि मौजूदा समय में विश्व के अनेक हिस्सों में पानी की भारी समस्या है और यदि पानी की बर्बादी नहीं रोकी गई तो स्थिति और विकराल हो जाएगी।

वर्ष 2050 तक विश्व की आबादी मौजूदा सात अरब बढ़कर नौ अरब हो जाएगी। पानी, भोजन की मांग और जलवायु परिवर्तन की समस्या दिनोंदिन और बढ़ती चली

जाएगी। मांग बढ़ने से अगले कुछ वर्षों में कई इलाकों में जल संकट और गहराएगा। तब विभिन्न देश अपने आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए जल को इस्तेमाल करने से नहीं हिचकेंगे। इसकी वजह से अस्थिरता और क्षेत्रीय तनाव बढ़ने जैसे खतरे पैदा होंगे। विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि दक्षिण एशिया में ब्रह्मपुत्र नदी क्षेत्र संभावित जोखिम वाला इलाका होगा। आने वाले समय में अनेक चुनौतियां मुंह बाए सामने खड़ी हैं। गरीब तबके को साफ पानी, साफ-सफाई की सुविधा मुहैया कराना, विश्व आबादी को खाद्यान्न उपलब्ध करना और ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभावों से निपटना जरूरी होगा। यह सच है कि कृषि की बढ़ती जरूरतों, खाद्यान्न उत्पादन, ऊर्जा उपभोग, प्रदूषण और जल प्रबंधन की कमजोरियों की वजह से स्वच्छ जल की आपूर्ति पर दबाव बढ़ रहा है। यही नहीं, पिछले 50 साल में धरती के नीचे से खींचे जाने वाले पानी की मात्रा तीन गुना बढ़ चुकी है। बिना बेहतर योजना और संयोजन के लाखों लोगों को भुखमरी, बीमारियों, ऊर्जा की कमी और गरीबी से जूझना होगा।

जहां तक एशिया प्रायद्वीप का सवाल है, दुनिया की 60 फीसद आबादी यहां रहती है लेकिन इन इलाकों में जल संसाधनों का मात्र एक तिहाई हिस्सा ही है। भारत को लें, यहां विश्व के मात्र चार फीसद नवीनीकरणी जल स्रोत हैं



जबकि आबादी 17 फीसद है। फिर पानी की मांग खतरनाक दर से बढ़ रही है, उसी तरह आबादी भी बढ़ती जा रही है। विश्व का दूसरा सबसे अधिक आबादी वाला यह देश 2050 तक चीन को पछाड़ते हुए पहली पायदान पर पहुंच जाएगा। तब 1.6 अबर लोगों के लिए जलसंकट विकराल रूप ले लेगा। राष्ट्रीय जल नीति प्रारूप-2012 के मुताबिक भारत में 4000 अरब घन मीटर वर्षा होती है जबकि इसमें से उपयोग में लाया जाने वाला जल संसाधन लगभग 1123 अरब घन मीटर ही है। गौरतलब है कि 48 फीसद वर्षा जल नदियों में पहुंचता है, जबकि भंडारण और संसाधनों की कमी के चलते केवल 18 फीसद जल ही उपयोग हो पाता है। हमारे यहां घरेलू कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में हर साल कुल 829 अरब घन मीटर पानी का उपयोग किया जाता है। साल 2025 तक इसमें 40 फीसद का इजाफा हो जाएगा। सच्चाई यह है कि बारिश और नदियों के ड्रेनेज सिस्टम द्वारा सालाना 432 अरब घनमीटर भूजल का पुनर्भरण होता है जिसमें से 395 अरब घनमीटर ही उपयोग लायक होता है। इसका 82 फीसद ही घरेलू और औद्योगिक उपयोग के लिए बचता है। हमारे यहां अधिकांश वर्षाजल का नदियों से होकर समुद्र में बेकार चला जाना सरकारों के लिए गंभीर चुनौती है। पर्यावरण विशेषज्ञ वर्षा जल संचयन पर हमेशा से बल देते रहे हैं, लेकिन उनकी सुनता कौन है? यदि तालाबों और झीलों जैसे पारंपरिक जल स्रोतों के संरक्षण-संवर्धन पर ध्यान दिया गया होता तो कुछ बात बन सकती थी, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ और उन पर कंक्रीट के जंगल खड़े हाते गए। जबकि राज्यों में प्राकृतिक जल स्रोतों की देखरेख के लिए अलग से विभाग हैं जो जलाशयों में गाद और प्रदूषण रोकने के लिए योजनाएं बनाते हैं, लेकिन दुर्भाग्य से वे कागजों पर ही रह जाती हैं।

यदि देश की बढ़ती आबादी और औद्योगीकरण को आधार माने तो 2025 तक पानी की जरूरत लगभग 1.093 घनमीटर हो जाएगी, जो 2050 में बढ़कर 1.447 घनमीटर हो जाएगी। यानी 2050 से पहले ही जल संकट विकराल रूप ले लेगा। भविष्य में मांग और आपूर्ति के इस

भीषण अंतर को पाटना आसान नहीं होगा। यह सबसे बड़ी चुनौती है। आज देश के आवासीय, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र में भूजल के बढ़ते दोहन से पानी का संकट और गहरा गया है। नतीजतन ज्यादातर इलाकों में पानी की गुणवत्ता में कमी आ रही है और साफ पानी में रहने वाले जीवों की प्रजातियों की विविधता और पारिस्थितिकी को तेजी से नुकसान पहुंच रहा है। देश के अधिकांश हिस्सों में पानी में फ्लोराइड, आर्सेनिक, आयरन व अन्य भारी धातुओं के मिलने के कारण वह पीने योग्य नहीं रह गया है। प्राकृतिक रूप से तटीय और अंतःतटीय क्षेत्र पानी के खारेपन की समस्या से जूझ रहे हैं। देश के दो तिहाई भूजल भंडार खाली हो चुके हैं और जो बचे हैं, वे प्रदूषित हो जा रहे हैं। नदी जल भी पीने लायक नहीं बचा है। ऐसे में बढ़ते जल संकट से निपटने के लिए बेहतर सामुदायिक विकेंद्रित जल प्रबंधन व्यवस्था अपनाने, जल के निजीकरण की जगह सामुदायीकरण करने और जल स्रोतों को अतिक्रमण से बचाने की जरूरत है। साथ ही जल कानून, जल संरक्षण, पानी के कुशल उपयोग, पानी की रिसाइकिलिंग और आधारभूत संरचनाओं संसाधनों पर विशेष ध्यान दिया जाए। जहां तक सरकार का सवाल है, उसने वर्ष 2013 को जल संरक्षण वर्ष घोषित किया और बूंद-बूंद पानी बचाने और उसका सदुपयोग करने के लिए जागरूकता अभियान चलाने का निर्णय लिया था। विडंबना देखिए कि साल खत्म होने को है लेकिन अभियान कागजों पर ही सिमट कर रह गया है। ऐसे में अब हमें खुद अपने पारंपारिक जल स्रोतों को बचाने के लिए आगे आना होगा। हमें समझना होगा कि जल संकट के इस विकट दौर में जल का कोई विकल्प नहीं है। इसके बिना मानव अस्तित्व की कल्पना ही असंभव है। जल है तो खाद्यान्न है, जल है तो वनस्पतियां हैं। जल संरक्षण से ही पर्यावरण संरक्षण है। हमें कुल मिलाकर समझना ही होगा कि जल है तो कल है। इसलिए हमें अभी से जल संरक्षण करना होगा अन्यथा बहुत देर हो जाएगी।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)

□ □ □



तमिलनाडु का एक आदर्श गांव

● विश्वनाथ सचदेव

ब | रसों पुरानी बात है। जिस अखबार में मैं काम किया करता था, उसके एक पाठक ने 'बड़ी पीड़ा' के साथ एक पत्र लिखा था। उसकी शिकायत थी कि अखबार में उसे कोई अच्छी खबर पढ़ने को नहीं मिलती। 'अच्छी खबर' की व्याख्या भी की थी। उसका कहना था कि अखबारों के पत्रे नकारात्मक खबरों से ही भरे रहते हैं। मार-पीट, अपहरण, हत्या, बलात्कार और हमारे कथित नेताओं द्वारा एक-दूसरे पर कीचड़ उछालने के अलावा और कोई खबर दिखती ही नहीं।

अतिरंजना हो सकती है इसमें, पर शिकायत वाजिव थी। मुझे बात में दम लगा और हमने एक कॉलम शुरू किया, अपने अखबार में- 'खुशखबर'। इस कॉलम में खोज-खोजकर सकारात्मक खबरें दी जाती थीं। खबरें, जो सिर्फ निराशा न फैलाएं, समाज में कुछ अच्छा भी हो रहा है, इस बात का आश्वासन देती लगे। उस दिन दक्षिण भारत के एक अखबार में 'अस्पृश्यता-मुक्त' गांव की एक खबर पढ़कर मुझे लगा कि यह खबर 'खुशखबर' बन सकती है। मुझे थोड़ी पीड़ा भी हुई, यह सोचकर कि इस तरह की खबरों को मीडिया में उतना प्रचार क्यों नहीं मिलता, जितना कि निराशा फैलाती, पीड़ा उपजाती खबरों को मिलता है। काफी दिन हो चुके उस समाचार को पढ़े, मगर मेरे देखने में नहीं आया कि किसी अन्य अखबार या किसी खबरिया चैनल ने उसे खबर को देने-दिखाने की जरूरत समझी हो।

बहरहाल, खबर तमिलनाडु के एक छोटे से गांव की है। वेदारण्यम इलाके में एक गांव है, थेनाम्पुलम सेनवरगारायनल्लुर। गांव के इस नाम का उच्चारण भिन्न हो सकता है, मगर उससे बात अथवा उसकी महत्ता में कोई अंतर नहीं आता। बात यह है कि इस छोटे से गांव में जातीय कट्टरता के लिए कोई स्थान नहीं है। यहां की

पंचायत ने बरसों पहले जाति आधारित काम की व्यवस्था को तिलांजलि दे दी थी। अपनी योग्यता के अनुसार किसी को भी कोई भी काम करने की आजादी है, यहां। यहां दलितों के लिए पृथक कुआं नहीं है।

जब किसी की मृत्यु हो जाती है, तो सारा गांव उसे कंधा देने पहुंचता है। शव-यात्रा चाहे दलित की हो या तथाकथित सवर्ण की, सब शामिल होते हैं, उसमें। सबकी अंत्येष्टि पूरे सम्मान के साथ होती है। तमिलनाडु के ग्रामीण इलाकों में ग्राम-देवता के मंदिर अथवा देवता की परंपरागत यात्रा में दलितों और महिलाओं को सहभागिता नहीं मिलती, मगर इस गांव में ऐसा नहीं है। यहां के मरयिम्न मंदिर की जब शोभा-यात्रा निकलती है, तो रथ खींचने वालों में एक तरफ बुर्काधारी मुस्लिम महिलाओं के साथ हिंदू महिलाएं होती हैं, तो दूसरी तरफ रस्सी खींचने वालों में सवर्णों के साथ दलित भी।

लगभग 25 मुस्लिम परिवार हैं, इस गांव में और दशकों से यह परिवार बाकियों के साथ एक विस्तारित परिवार की तरह रह रहे हैं। तमिलनाडु में दलितों के एक देवता हैं, सेम्बान। खुली छाती, बड़ी-बड़ी मूर्तें, हाथ में लाठी और अनाज नापने वाला मरक्कल। यह मूर्ति वहां के ग्राम-देवता के मंदिर में हुआ करती है, पर इस देवता को मंदिर के कोने में ही स्थान मिलता है। मगर, सेनबगारायनल्लुर गांव की पंचायत ने दलितों के इस देवता को मंदिर के गर्भगृह में स्थान दिया है।

यह सब कुछ तमिलनाडु के इस गांव को एक विशेष गांव बना देता है, यहां की पंचायत को एक विशेष पंचायत और यहां के लोगों को विशेष लोग। जातीय और सांप्रदायिक समन्वय का प्रतीक बना यह गांव आसपास के इलाकों के लिए कितनी और कैसे प्रेरणा बना है, इसका आकलन तो अभी नहीं हुआ, पर यहां के लोगों को अपनी इस पहल पर



गर्व है और यह गर्व करने का अधिकार भी हैं, उन्हें। यहां की पंचायत के मुखिया राजसिंहन गर्व से बताते हैं कि सामान्यतः दलितों के लिए पृथक मंदिर और पृथक कब्रिस्तान होते हैं, लेकिन इस गांव में ऐसा नहीं है। यहां वन्नियार, ब्राह्मण, दलित, सबके लिए सब मंदिर हैं और कब्रिस्तान एक है।

मुखिया का कहना है कि 'जाति हमारे जीवन में कहीं' बाधक नहीं बनती।' यहां मंदिर के कुएं से दलित पानी निकालता है और टेंकरों में भरता है। इसी गांव के पास ही एक और गांव है, चेट्टिपुलम। इस गांव में एक दलित ने मंदिर के कुएं से पानी निकला लिया था, तो भारी विवाद हुआ था। उस कुएं को अपवित्र घोषित करके उसे पाट दिया गया था। पता नहीं, राजसिंहन के गांव का असर पास-पड़ोस पर कब पड़ेगा? अभी तो हालत यह है कि आसपास के गांवों के दलित बाल कटाने के लिए भी सेनबगारायनल्लुर के नाई के पास आते हैं। यह अंतर तमिलनाडु के इस गांव को विशेष बनाता है।

विशेषता की शुरुआत लगभग आधी सदी पहले साठ के दशक में हुई थी। तब 91 वर्षीय पंचायत मुखिया ने गांव के सारे समुदायों के लिए एक सामूहिक भोज का आयोजन किया था। फिर, उसने अपने ही परिवार में अंतरजातीय विवाह करवाया। अब तो यह वहां की परंपरा-सी बन गई है। कुछ ही दिन पहले तमिलनाडु के कुछ हिस्सों में अंतरजातीय विवाह को लेकर हुई हिंसा के संदर्भ में लगभग साठ साल पहले इस गांव में शुरू की गई परंपरा का महत्व और उभरकर सामने आता है। छोटे-से गांव की वह प्रगतिशील सोच हमारे आज की आवश्यकता है, ताकि हमारा भविष्य संवर सके।

अंतरजातीय विवाह के संदर्भ में तमिलनाडु में हाल ही में हुए जातीय दंगे इस गांव के लोगों की दृष्टि में पीछे की ओर बढ़ते कदम का उदाहरण हैं। पीछे की ओर बढ़ने के ऐसे उदाहरण दुर्भाग्य से हम अकसर देश के अलग-अलग हिस्सों में देखते हैं और दुर्भाग्य से हम यह भी देख रहे हैं कि जातीयता का शाप हमारे सिरों से उतरता ही नहीं। उलटे, हमारी राजनीति के कर्ता-धर्ता इस शाप को मजबूत करते ही दिखाई देते हैं। जातीयता और सांप्रदायिकता, दोनों हमारी राजनीति के हथियार बन गए हैं। वैसे, सारे नेता इन दोनों बातों का विरोध करते दिखना चाहते हैं, पर सबकी कोशिश यह रहती है कि इन हथियारों का राजनीतिक लाभ कैसे उठाया जाए?

जाति और धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों को तमिलनाडु के इस छोटे-से गांव से शिक्षा लेनी चाहिए, पर वोट बटोरू राजनीति में विवेक की इस आवाज को भला कोई क्यों सुनना चाहेगा? विवेक की यह आवाज और उदाहरण भले ही 'खुशखबर' क्यों न हों, पर हमारी राजनीति उन खबरों पर पल रही है, जो जोड़ती नहीं, बांटती हैं। जोड़ने की दुहाई देते-देते हमारे नेताओं को कभी यदुवंशियों के साथ कृष्ण का रिश्ता याद आ जाता है और कभी वे जातियों के थोक वोटों के सपने देखने लग जाते हैं। सवाल उठता है कि तमिलनाडु का यह छोटा-सा गांव 'खुशखबर' का एक अकेला उदाहरण क्यों लगता है? क्यों नहीं यह उदाहरण देश के लिए प्रेरणा बनता? कहते हैं कि एक अकेला दीया भी अंधेरे को चुनौती देता है। यह गांव भी यही कर रहा है। प्रणम्य हैं, ऐसे उदाहरण। देश में ऐसे उदाहरण जगह-जगह मिलने चाहिए, ताकि भारतवासी भारतीय होने पर गर्व करें।

(साभार : राज एक्सप्रेस)





जी-जान से जुटिए, तभी बचेंगी नदियां

● सुजीत भूषण

देश की नदियों में बढ़ रहे प्रदूषण की समस्या के समाधान स्वरूप प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को अनुशासनात्मक शक्ति की बजाए मजिस्ट्रियल शक्ति सौंपी जानी चाहिए और उसे दंडात्मक कार्रवाई का अधिकार दिया जाना चाहिए। नदियों के किनारे के उद्योगों के सामने तीन विकल्प रखे जाएं- पहला, औद्योगिक उत्प्रवाह को इफ्लूएंट ट्रीटमेंट प्लांट (ईटीपी) लगाकर रिसाइकल करके स्वयं इस्तेमाल करें। दूसरा, औद्योगिक उत्प्रवाह को शोधित करके सिंचाई, के लिए प्रयुक्त करें अथवा किसी बंजर भूमि में या तालाब बनाकर निस्तारित करें। तीसरा, औद्योगिक इकाई को अपना औद्योगिक उत्प्रवाह अथवा नगर निकायों को नगरीय नाले सीवेज किसी भी स्वरूप में (शुद्धीकृत अथवा अशुद्धीकृत) नदी जल में गिराने की अनुमति कतई न दी जाए।

भा | रत में नदियों में प्रदूषण के मुद्दे को बहुत गंभीरता से नहीं लिया जा रहा है जबकि अनेक अध्ययनों में स्थिति भयावहता इंगित होती रही है। मीडिया में प्रकाशित एक खबर के अनुसार उत्तरप्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के मुताबिक काशी में मूर्तियों के विसर्जन से गंगा का पानी और विषैला हुआ है। इसमें ऑक्सीजन की कमी पाई गई है जो जलीय जीवों के लिए संकट का कारण है। गंगा ही क्या, देश की बड़ी-छोटी हर नदी प्रदूषण की गंभीर चुनौतियों का सामना कर रही है। जहरीले औद्योगिक उत्प्रवाह, नगरीय सीवेज, नालों, उत्खनन, अतिक्रमण आदि के चलते बहुत सी नदियां लुप्त हो चुकी हैं और बहुत सी लुप्तप्राय हैं। नदियों को जब तक हम अपनी सभ्यता-संस्कृति का वाहक तथा जीवनदायिनी-मोक्षदायिनी समझते थे तब तक वह सुरक्षित थी और हमें जीवन और पुण्य देती थीं किन्तु अब जबकि हमने नदियों को क्षुद्र स्वार्थ के चलते नालों में तब्दील कर दिया है तो वही हमें मौत तबाही और बीमारियां दे रही हैं।

विडम्बना है कि नदियों को प्रदूषणमुक्त करने के नाम पर शासन के स्तर पर अब तक अरबों रुपयों खर्च किए

जा चुके हैं लेकिन नदियां स्वच्छ होने की बजाय और मैली होती जा रही हैं। राज्यसभा के पटल पर रखी संसदीय समिति की रिपोर्ट बताती है कि पिछले बीस वर्षों में केवल गंगा की सफाई के नाम पर 39,226 करोड़ रुपये खर्च हुए हैं लेकिन गंगा में प्रदूषण बढ़ता जा रहा है। उत्तर प्रदेश प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने 2012 में उत्तर प्रदेश में कुल 2171 फैक्ट्रियों की पहचान की जिनसे खतरनाक औद्योगिक कचरा उत्पन्न होता है। इनमें से 95 ऐसी हैं जिन्होंने उद्योग चलाने की अनुमति ही नहीं ली। जेएनयूआरएम प्रोग्राम के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के छह महानगरों - कानपुर, लखनऊ आगरा, इलाहाबाद, वाराणसी व मेरठ में सीवेज की 12 परियोजनाओं पर 2007-2012 तक 2340.95 करोड़ खर्च होना था किन्तु पूरा समय बीत जाने के बाद भी लगभग 50 प्रतिशत धन ही खर्च हो सका। प्रदेश के 630 नगर निकायों में से 575 में सीवेज सिस्टम नहीं है। शेष 55 नगरों में भी लगभग 30-35 प्रतिशत सीवेज निस्तारण की व्यवस्था है। जो सीवेज सिस्टम कार्य कर रहे हैं, उनकी भी दशा बहुत अच्छी नहीं है। राज्य सरकारें नगर पालिकाओं की क्षमता-कुशलता बढ़ाये बिना ही संयंत्र लगाकर उन्हें सौंप देती हैं।



नगर पालिकाएं संयंत्र चलाने की जरूरत नहीं समझतीं। ऊपर से बिजली की समस्या बाधक बनती है।

आज से करीब सवा सौ साल पूर्व अंग्रेजों ने पहली बार वाराणसी में गंगा में एक नाला गिराया था। वहीं से रिवर में सीवर डालने की कुप्रथा की नींव पड़ी जो आजादी के बाद भी बदस्तूर जारी रही। औद्योगिक घराने इसे बढ़ावा देते रहे और सरकारें मौन रहीं। नगर निगम और नगर पालिकाएं अपना ही सीवेज और नाले नदियों में उड़ेलते हैं। इसी कारण आज महानगरों में नदियों को नाला कहा जाने लगा है। मुंबई में मीठी नाला, दिल्ली में यमुना नाला, कानपुर में गंगा नाला, हैदराबाद में मूसी नाला, बेंगलुरु में अरकावती नाला, नागपुर में नागनाला, इंदौर में नदी नाला इत्यादि। यद्यपि जल (संरक्षण व प्रदूषण) अधिनियम, 1974 की धारा 26 व 43 में औद्योगिक इकाइयों या नगर निगमों को अपने शुद्धीकृत उत्प्रवाह नदी में गिराने की अनुमति दी गई है। इन्ही प्रावधानों की आड़ में सारी गड़बड़ियां होती हैं। औद्योगिक इकाइयों और खुद नगर निकायों द्वारा ईमानदारी से इनका पालन नहीं होता है। साथ ही इनकी निगरानी करने वाली संस्था राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के हाथ भी कानून से बंधे हैं। उसकी शक्तियां सीमित और औपचारिक हैं। किसी औद्योगिक इकाई के प्रदूषित उत्प्रवाह डालने का दोषी पाये जाने पर बोर्ड पन्द्रह दिन की अवधि के साथ कारण बताओ नोटिस जारी करता है। पन्द्रह दिन की अवधि अपने को निर्दोष साबित करने के लिए काफी होता है।

देश की नदियों में बढ़ रहे प्रदूषण की समस्या के समाधानस्वरूप प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड को अनुशासनात्मक शक्ति की बजाए मजिस्ट्रियल शक्ति सौंपी जानी चाहिए और उसे दंडात्मक कार्रवाई का अधिकार दिया जाना चाहिए। नदियों के किनारे के उद्योगों के सामने तीन विकल्प रखे जाएं- पहला, औद्योगिक उत्प्रवाह को इफ्लूएंट ट्रीटमेंट प्लांट (ईटीपी) लगाकर रिसाइकल करके स्वयं इस्तेमाल करें। दूसरा, औद्योगिक उत्प्रवाह को शोधित करके सिंचाई, के लिए प्रयुक्त करें अथवा किसी बंजर भूमि में या तालाब

बनाकर निस्तारित करें। तीसरा, औद्योगिक इकाई को अपना औद्योगिक उत्प्रवाह अथवा नगर निकायों को नगरीय नाले सीवेज किसी भी स्वरूप में (शुद्धीकृत अथवा अशुद्धीकृत) नदी जल में गिराने की अनुमति कतई न दी जाए। राज्यों में प्रदूषण नियंत्रण बोर्डों की स्थिति अत्यंत असंतोषजनक है। उनके पास न पर्याप्त स्टाफ है और न आवश्यक अधिकार हैं। इसके अधिकांश क्षेत्रीय कार्यालयों में प्रयोगशाला नहीं है। यह महकमा सफेद हाथी साबित हो रहा है। नदियों में एक हद तक परम्परागत गंदगी बर्दाश्त करने की ताकत तो होती है किन्तु औद्योगिक कचरा एवं शहरी नालों को वह नीं पचा पाती हैं। दुनिया के अन्य देशों में रिवर-सीवर बिच्छेद करके ही नदियों को पुनर्जीवित किया जा सका है। गटर बन चुकी अमेरिका के बरकले शहर की क्रीक नदी, कनाडा की ओटावा नदी, स्वीडन की स्टाकहोम नदी तथा न्यूयार्क की हडसन नदी को इसी तरह से पुनः जीवन प्रदान किया गया है। भारत में भी सामुदायिक स्तर पर ऐसे प्रयास कर उल्लेखनीय सफलताएं हासिल की गई हैं। कोलकाता की वैदवती नदी में गिरने वाले नालों को स्थानीय मछुआरों ने मोड़कर अपने खेतों में पोखरा बनाकर उसमें डाल दिया और उसमें गंदा खाने वाली मछलियों को छोड़ दिया। साफ हो जाने पर पानी को पुनः वैदवती नदी में डाल दिया गया। पंजाब के फिरोजपुरा की 89 मील लंबी नदी काली बेई में गिरने वाले नालों को मोड़कर उसे निर्मल बनाया गया। इसी प्रकार के प्रयास अरवरी, पावधोई, बेतवा, और तमसा जैसी नदियों के लिए सामुदायिक स्तर पर किए गये हैं। यदि शासन जल अधिनियम को सख्त बनाए और कड़ाई से रिवर-सीवर को अलग रखने की कार्ययोजना बनाए तो निश्चित रूप से हमें बड़ी नदियों के संबंध में भी यह सफलता मिल सकती है। नदियां न सिर्फ हमारे जीवन का स्रोत हैं बल्कि सनातन सभ्यता, संस्कृति और परम्पराओं की वाहक भी हैं। भावी पीढ़ी को जल संकट से बचाने और अपनी पहचान बनाये रखनी है तो नदियों के संरक्षण के लिए सैन्यभाव से जुटना होगा।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





बेहतर चिकित्सा के लिए कानून जरूरी

● जाविद चौधरी



आमतौर पर मुआवजे के फैसले बहुत कठोर होते हैं। इसलिए मेडिकल सेवा प्रदाता ऐसी आपात स्थितियों के लिए बड़ा इंश्योरेन्स कवर लेने पर मजबूर हो जाते हैं। इसके कारण दिन ब दिन महंगी होती जा रही मेडिकल सेवाओं की लागत में और इजाफा हो रहा है। भारतीय मेडिकल व्यवस्था क्षतिपूर्ति कानून के ऐसे दुरुपयोग को बर्दाश्त नहीं कर सकती। खासतौर पर तब जब मेडिकल सेवाओं की पहुंच सीमित है और समाज के बड़े वर्ग के लिए इसकी ऊंची लागत बर्दाश्त के बाहर है। हमें सुप्रीम कोर्ट के फैसले के आधार पर एक ऐसी परंपरा की नींव डालनी होगी जो तार्किक और संतुलित हो।



दे

श में आबादी के बड़े तबके तक आधारभूत चिकित्सा सेवाओं की पहुंच न होने को सार्वजनिक बहसों में प्रायः स्वीकार कर भी लिया जाता है, लेकिन इन सेवाओं की गुणवत्ता और निगरानी का मुद्दा फोकस से बाहर है। इस पृष्ठभूमि में कोलकाता के एएमआरआई अस्पताल और इसके तीन डॉक्टरों द्वारा घोर लापरवाही बरतने के मामले में पीड़ितों को रिकॉर्ड मुआवजा दिए जाने का सुप्रीम कोर्ट का फैसला इस दिशा में खतरे की घंटी है, जो बहुत दिनों से अपेक्षित थी।

पिछला इतिहास देखें तो उपचार में लापरवाही के मामलों में हमारे यहां क्षतिपूर्ति की राशि मामूली ही रही है। इसके पहले 2009 में सुप्रीम कोर्ट ने ही हैदराबाद के एक अस्पताल को तब तक का सर्वाधिक 1 करोड़ रुपए का मुआवजा देने का फैसला दिया था। अब कोर्ट के ताजा फैसले ने न्याय क्षेत्र में क्षतिपूर्ति कानून के ढांचे में आमूल परिवर्तन ला दिया है। इस फैसले ने चिकित्सा सेवा प्रदान करने वालों को यह संदेश दिया है कि उनके क्षेत्र में गुणवत्ता रोगी का ऐसा अधिकार है जिस पर समझौता नहीं किया जा सकता।

फैसले में यह विशेष संदेश भी निहित है कि मुआवजा तय करने की प्रक्रिया में स्वास्थ्य सेवाओं की गुणवत्ता में

कमी के मामले को उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के तहत किसी आम सेवा में खामी के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। एएमआरआई के मामले में दूरगामी फैसले का स्वागत करने के साथ ही यहां थोड़ी सावधानी बरतने पर गौर करना अनुचित नहीं होगा। रिकॉर्ड हर्जाना, चिकित्सा जैसी संवेदनशील सेवा में गुणवत्ता व जवाबदेही सुनिश्चित करने का आवश्यक न्यायिक औजार है। इस पृष्ठभूमि में चिकित्सा सेवाओं की गुणवत्ता पर निगरानी रखने के लिए एक अलग कानून की जरूरत है, जो यह सुनिश्चित करे कि प्रावधान लागू करने में और मुआवजा तय करते वक्त अनजाने में न्यायिक ज्यादाती न हो जाए।

विकसित देशों में मेडिकल सेवाओं में कड़े मुआवजा कानून का अनुभव सिर्फ अच्छा ही अच्छा रहा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अमेरिका में मेडिकल सेवा प्रदाताओं के लिए एक गंभीर अड़चन बन गया है। वहां कानूनी सेवाएं देने वालों की एक अलग ही जमात उभर आई है, 'एम्बुलेंस चैजर्स' कहा जाता है। ये 'एम्बुलेंस चैजर्स' रोगियों को मेडिकल लापरवाही की अतिशयोक्तिपूर्ण या काल्पनिक घटनाओं के आधार पर क्षतिपूर्ति का दावा लगाने के लिए उकसाते हैं।

वहां आमतौर पर मुआवजे के फैसले बहुत कठोर



होते हैं। इसलिए मेडिकल सेवा प्रदाता ऐसी आपात स्थितियों के लिए बड़ा इंश्योरेन्स कवर लेने पर मजबूर हो जाते हैं। इसके कारण दिन ब दिन महंगी होती जा रही मेडिकल सेवाओं की लागत में और इजाफा हो रहा है। भारतीय मेडिकल व्यवस्था क्षतिपूर्ति कानून के ऐसे दुरुपयोग को बर्दाश्त नहीं कर सकती। खासतौर पर तब जब मेडिकल सेवाओं की पहुंच सीमित है और समाज के बड़े वर्ग के लिए इसकी ऊंची लागत बर्दाश्त के बाहर है। हमें सुप्रीम कोर्ट के फैसले के आधार पर एक ऐसी परंपरा की नींव डालनी होगी जो तार्किक और संतुलित हो।

क्षतिपूर्ति के मुद्दे का विश्लेषण करते समय इस बारे में मौजूदा स्थिति को देखना उचित होगा। मूलतः नागरिक सुविधाओं में हुई लापरवाही के मामले में क्षतिपूर्ति कानून बहुत ही कमजोर हैं। कुछ वर्षों से केवल सड़क दुर्घटनाओं के मामलों से संबंधित कानून अस्तित्व में है। सामान और सेवाएं प्रदान करने की गुणवत्ता में कमी के खिलाफ थोड़ा व्यापक कानून 'उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986' के रूप में लाया गया। वास्तविकता यह है कि यह कानून एक अलग ही श्रेणी के 'सामान' और 'सेवाओं' के लिए लाया गया था। हालांकि उपभोक्ता विवाद निवारण संस्थाओं और ऊंची अदालतों ने इस कानून का रचनात्मक उपयोग कर इसका दायरा कुछ प्रकरणों में मेडिकल सेवाओं संबंधी शिकायतों और मेडिकल लापरवाही के मामलों तक बढ़ा दिया। लेकिन विशिष्ट वैधानिक मानदंडों या दंडात्मक प्रावधानों के अभाव में उपभोक्ता कानून का सहारा अपर्याप्त ही है।

उपभोक्ता कानून के तहत सामान व सेवाओं के मामले में बाजार में हुए व्यवहार से हमेशा ही ऐसे सबूत मिल सकते हैं जिनके आधार पर मुआवजे की तर्कसंगत राशि तय की जा सकती है। लेकिन मेडिकल मामलों में मुआवजे की राशि तय करने में ऐसी कोई मदद नहीं मिलती। ऐसे में दीर्घावधि के लिए मानवीय विशेषताओं व मेडिकल विज्ञान को ध्यान में रखकर बनाया गया कानून उपचार के दौरान लापरवाही में क्षतिपूर्ति राशि तय करने के लिए मानदंड व सिद्धांत उपलब्ध करा सकता है।

अभी तो देश में मेडिकल संस्थानों के कामकाज और उनके द्वारा दी जा रही सेवाओं पर निगरानी रखने का कोई कानून नहीं है। इस खामी को दूर करने के लिए केन्द्र सरकार 'चिकित्सा संस्था अधिनियम 2011' लाई। इसमें अन्य बातों के साथ नए चिकित्सा संस्थानों व चिकित्सा सेवा केन्द्रों का पंजीयन, ऐसे संस्थानों का डेटा बेस तैयार करने, आधारभूत ढांचा व मानव संसाधनों के लिए मानदंड तैयार करने और रोग निदान व उपचार का प्रोटोकॉल तैयार करने से था। चूंकि संविधान के तहत स्वास्थ्य का विषय राज्यों के अधिकार में आता है, यह कानून तभी अमल में आएगा जब राज्य सरकार इसे अपने यहां लागू करें। अभी तक कुछ ही राज्यों ने नया कानून लागू किया है।

कुछ महीने पहले राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने नए कानून की समीक्षा की थी। निष्कर्ष यही निकाला गया कि गुणवत्तापूर्ण मेडिकल सेवाओं के लिए निगरानी का काम दो संस्थाओं के बीच बांट देना चाहिए। पहले से मौजूद नए कानून के तहत देश में मेडिकल संस्थानों व चिकित्सा केन्द्रों का डेटा बेस तैयार करना चाहिए। जबकि मेडिकल क्षेत्र में आधारभूत ढांचा, मानव संसाधन, निदान व उपचार के मानक और सेवाओं के शुल्क तय करने के लिए एक स्वायत्त राष्ट्रीय स्वास्थ्य विकास व नियमन प्राधिकरण का गठन किया जाना चाहिए। इसके पीछे भावना यह है कि गुणवत्ता की निगरानी करने वाला यह प्राधिकरण सरकार से एक हाथ दूर ही होगा। हालांकि सरकार ने अभी चिकित्सा संस्थानों पर निगरानी रखने और गुणवत्ता के मानक लागू करने संबंधी संस्थाओं की संरचना के बारे में कोई अंतिम निर्णय नहीं लिया है।

जो भी हो सुप्रीम कोर्ट को बधाई दी जानी चाहिए कि उसने ताजा फैसला देकर मेडिकल सेवाओं की गुणवत्ता के नियमन और गुणवत्ता के मानक लागू करने की जरूरत को रेखांकित किया है। अब गेंद सरकार के पाले में है कि वह इस काम के लिए उचित ढांचा तैयार करे।

(साभार : दैनिक भास्कर)





जल संकट : संयुक्त राष्ट्र की चेतावनी सुनो

● ज्ञानेन्द्र रावत

संयुक्त राष्ट्र ने चेतावनी दी है कि दुनिया जल संकट के मुहाने पर आ गई है और यदि पानी के संरक्षण के उपाय नहीं किए गए, तो वह दिन दूर नहीं, जब हम बूंद-बूंद पानी को तरसने लगेंगे।

आ | ज पूरा विश्व गंभीर जल संकट से जूझ रहा है। 'जल ही जीवन है' व 'बिन पानी सब सून' वाली कहावतों के अनुसार पानी के अभाव में जीवन और प्रगति की कल्पना तब असंभव है। जीवन की इस सबसे अपरिहार्य जरूरत को पूरा करने हेतु शीघ्र प्रयास नहीं किए गए, तो भविष्य में स्थिति और विषम हो जाएगी व हम बूंद-बूंद पानी के लिए तरस जाएंगे।

दुनिया में पानी की स्थिति का जायजा लें, तो पता चलता है कि धरती की सतह पर 70 फीसदी पानी है, जिसमें 97.5 फीसदी तो खारा है। ढाई फीसदी शुद्ध जल का 68.7 फीसदी बर्फ के रूप में, 30 फीसदी भूजल व 0.3 फीसदी ही सतह पर है। सतही जल का 87 फीसदी झीलों और दो फीसदी नदियों में है। यह जानते हुए भी हम इस अमूल्य संपदा की कद्र नहीं कर रहे हैं। दुनिया में आज करीब 20 फीसदी लोग साफ पेयजल से वंचित हैं, फिर भी मानो हम सो ही रहे हैं।

लिहाजा, संयुक्त राष्ट्र को चेतावनी देनी पड़ी है। उसने कहा है कि यदि पानी की बर्बादी रोकੀ नहीं गई, तो स्थिति विकराल हो जाएगी। 2050 तक विश्व-आबादी मौजूदा सात अरब से बढ़कर नौ अरब हो जाएगी। कृषि की बढ़ती जरूरतों, खाद्यान्न उत्पादन, ऊर्जा उपभोग, जल प्रबंधन की कमजोरियों के कारण स्वच्छ जल की आपूर्ति पर दबाव बढ़ रहा है। पिछले 50 वर्षों में धरती से खींचे जाने वाले पानी की मात्रा तीन गुना बढ़ चुकी है। जहां तक एशिया महाद्वीप का सवाल है, तो यहां दुनिया की 60 फीसदी आबादी रहती है, पर यहां जल संसाधनों का मात्र एक-तिहाई हिस्सा ही है। भारत को लें, तो यहां विश्व के चार फीसदी ही जल स्रोत हैं, जबकि आबादी 17 फीसदी है। विश्व का दूसरा सबसे ज्यादा आबादी वाला यह देश 2050 तब चीन को पछाड़कर पहले पायदान पर पहुंच जाएगा। तब 1.6 अरब लोगों के लिए जल संकट विकराल

रूप ले सकता है।

राष्ट्रीय जल नीति प्रारूप 2012 के मुताबिक भारत में चार हजार अरब घन मीटर वर्षा होती है, जबकि इसमें से उपयोग में लाया जाने वाला जल संसाधन 1123 अरब घनमीटर ही है। इसका 48 फीसदी वर्षा-जल नदियों में पहुंचता है, जबकि भंडारण और संसाधनों की कमी के चलते केवल 18 फीसदी जल ही उपयोग हो पाता है। हमारे यहां घरेलू, कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में हर साल कुल 829 अरब घन मीटर पानी उपयोग किया जाता है। 2025 तक इसमें 40 फीसदी का इजाफा हो जाएगा। बारिश व नदियों से सालाना 432 अरब घन मीटर भूजल का पुनर्भरण होता है, जिसमें 395 अरब घनमीटर ही उपयोग लायक होता है। इसका 82 फीसदी सिंचाई और कृषि कार्यों में उपयोग होता है, जबकि 18 फीसदी ही घरेलू और औद्योगिक उपयोग के लिए बचता है।

यहां जल संग्रहण क्षमता सीमित है, अधिकांश वर्षा-जल नदियों से होकर समुद्र में बेकार चला जाता है। पर्यावरण विशेषज्ञ वर्षा जल संचयन पर हमेशा बल देते रहे हैं, पर उनकी सुनता कौन है? यदि तालाबों और झीलों के संरक्षण-संवर्धन पर ध्यान दिया गया होता, तो कुछ बात बन सकती थी, पर ऐसा कुछ नहीं हुआ। आज देश में भूजल के बढ़ते दोहन के कारण संकट और गहरा गया है। पानी की गुणवत्ता में कमी भी आ रही है। देश के अधिकांश हिस्सों में पानी की फ्लोराइड, आर्सेनिक और अन्य धातुओं के मिलने के कारण पानी पीने योग्य नहीं रह गया है। कई राज्यों में पानी के खारेपन की समस्या है। देश के दो-तिहाई भूजल भंडार खाली हो चुके हैं। जो बचे हैं, वे प्रदूषित होते जा रहे हैं। नदी जल तक पीने लायक नहीं बचा। ऐसे में संयुक्त राष्ट्र ने जो चेतावनी दी है, उसे सुनना होगा। यह बात समझनी पड़ेगी कि दुनिया जल संकट के मुहाने पर आ गई है।

□ □ □



बच्चों के सपनों को दें परवाज

● जगमोहन सिंह राजपूत

माता-पिता को यह समझना चाहिए कि उनका उत्तरदायित्व बच्चे की रुचियों को दिशा देना है, उनमें आगे बढ़ने में सहायता करना है, न कि अपनी इच्छा लादकर उसकी प्रतिभा के दायरे को संकुचित करना।

सभी माता-पिता अपने बच्चों की शिक्षा तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए स्कूल से अनगिनत अपेक्षाएं मन में संजाए रखते हैं। जैसे बच्चों का पहला स्कूल तो माता-पिता ही होते हैं। परिवार में ही बच्चों को भावनात्मक सुरक्षा मिलती है, अपनत्व से उनका परिचय होता है। नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखिका पर्ल एस. बक ने करीब 70 वर्ष पहले अमरीका के बच्चों के संबंध में लिखा था, वहां के बच्चों को सुरक्षा न मिलने का मुख्य कारण उनका अपने 'बड़े परिवार' से दूर होना ही है। भारत में भी नाभिकीय परिवारों की नई धारा चली है व संयुक्त परिवार कम होते जा रहे हैं। बक ने लिखा था, संयुक्त परिवार में बच्चा सुरक्षित तथा सशक्त महसूस करता है।

हर माता-पिता अपने लड़कों तथा लड़कियों को अब बिना भेदभाव 'अच्छे स्कूल में अच्छी शिक्षा देना चाहते हैं।' वे मानते हैं, बच्चों को स्कूलों में रुचिकर, तनाव या दबाव से मुक्त वातावरण मिले। पर अनेक माता-पिता बच्चों को स्कूल में प्रवेश दिलाकर निश्चित हो जाते हैं, ऐसा कि भी दृष्टि से उचित नहीं है। यह बच्चे के संपूर्ण विकास में व्यवधान ही पैदा करता है। यह सर्वस्वीकार्य तथ्य है कि शुरू के वर्षों में स्कूल व घर के वातावरण में जितनी अधिक समानता तथा समरसता होगी, बच्चे के सीखने की प्रक्रिया उतनी ही स्तरीय होगी। कुछ समानताएं

हर आर्थिक वर्ग में जरूरी हैं- माता-पिता बच्चों को कितना समय देते हैं, उनको कितना सुनते हैं, कितना जानने-समझने की कोशिश करते हैं। बच्चों को समय मिलना चाहिए, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता है।

यह लगभग सर्वव्यापी अनुभव है कि पढ़े-लिखे माता-पिता बच्चे के शैशव काल में ही तय कर लेते हैं कि उसे क्या बनाना है। उन्हें इसमें कोई संदेह ही नहीं होता है कि जो उन्होंने सोचा है, बच्चा बड़ा होकर उससे अलग कुछ सोच सकता है।

बच्चे की रुचि यदि संगीत में है तथा पिता उसे डॉक्टर बनाने के लिए कटिबद्ध हैं, तो जो तनाव बच्चे पर बनता है, वह उसकी प्रतिभा को कुंठित ही करता है, भले ही वह मेडिकल डॉक्टर बन जाए। चूंकि प्रतिस्पर्धा व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश स्तर पर कठित है, अतः बच्चे को अधिक अंक, अधिक ट्यूशन को लगातार झेलना पड़ता है, माता-पिता यह समझें कि उनका उत्तरदायित्व बच्चे की रुचियों को दिशा देना है, उनमें आगे बढ़ने में सहायता करना है, न कि अपनी इच्छा लादकर उसकी प्रतिभा के दायरे को संकुचित करना। अब देशमें एक ऐसी पीढ़ी सामने आ रही है, जिसे अपनी दिशा तो माता-पिता की इच्छानुसार तय करनी पड़ी थी, पर अनुभव से सीखकर अपने बच्चों को उनकी इच्छानुसार विषय चुनने का अधिकार



देने का निश्चय किया है। इस प्रक्रिया को विस्तारित करना जरूरी है।

बच्चों के विकास में घर पर माता-पिता का साथ और स्कूल में अध्यापक का व्यवहार सबसे महत्वपूर्ण होता है। व्यस्त माता-पिता अनेक बार समय न दे पाने की कमी को उपहार देकर पूरा करना चाहते हैं, जो सही नहीं माना जा सकता है। बच्चों को सबसे बड़ा उपहार तो वह समय है, जो माता-पिता उनके साथ व्यतीत करते हैं। माता-पिता को बच्चों से अपने 'संबंध' को अधिक से अधिक सुदृढ़ बनाने के प्रयास लगातार करते रहने चाहिए। आयु के साथ आ रहे परिवर्तनों से अवगत रहना होता है तथा अपने में परिवर्तन करना होता है।

अक्सर माता-पिता बच्चे के नैसर्गिक परिवर्तनों को भी अपने अनुसार ढालना चाहते हैं और इस कारण कई बार दूरियां बढ़ने लगती हैं। जुड़ाव बढ़ाने के लिए बच्चों की संवेदनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक जरूरतों को जानना भी जरूरी होता है। यदि बच्चों को लगातार उसकी कमियां ही बताई जाएं, तो वह भी खुद को कमियों को पुलिंदा मानने लगता है, उसका मनोबल क्षीण होने लगता है। इसलिए बच्चों की प्रशंसा भी करना चाहिए, उसके सामने ऐसे अवसर लाने का प्रयास करना चाहिए, जब 'अन्य' के सामने उनकी प्रशंसा की जाए। सामने की गई प्रशंसा से अधिक प्रभावशाली प्रशंसा वह होती है, जो दूसरे लोगों द्वारा उन तक पहुंचती है। यदि बच्चा माता-पिता के व्यवहार में धैर्य की उपस्थिति लगातार देखता है, उनके छोटे-बड़े निर्णयों में ईमानदारी देखता है, तो आगे चलकर वह स्वयं भी धैर्यवान बनेगा, न्याय की न केवल अपेक्षा करेगा, वरन् न्याय देने की क्षमता को अंतर्निहित कर सकेगा।

जब परिवार में संबंधों की प्रगाढ़ता लगातार देखी जाती है, बच्चों से व्यवहार में स्नेह तथा आदर प्रत्येक



माता-पिता बच्चे के नैसर्गिक परिवर्तनों को भी अपने अनुसार ढालना चाहते हैं और इस कारण कई बार दूरियां बढ़ने लगती हैं। जुड़ाव बढ़ाने के लिए बच्चों की संवेदनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक जरूरतों को जानना भी जरूरी होता है। यदि बच्चों को लगातार उसकी कमियां ही बताई जाएं, तो वह भी खुद को कमियों को पुलिंदा मानने लगता है, उसका मनोबल क्षीण होने लगता है। इसलिए बच्चों की प्रशंसा भी करना चाहिए, उसके सामने ऐसे अवसर लाने का प्रयास करना चाहिए, जब 'अन्य' के सामने उनकी प्रशंसा की जाए।



सदस्य से आता है, तब संपूर्ण व्यक्तित्व विकास की अवधारणा की जड़ें सुदृढ़ होती हैं। शिक्षा-स्कूल उसे और विस्तार देते हुए जड़ों को मजबूत करते हैं। बच्चों की उपलब्धियों पर जब परिवार की प्रशंसा की मोहर लगती है, तब उसके मन में 'श्रेष्ठता' की ओर और अधिक लगन तथा मेहनत के साथ बढ़ने का निश्चय स्वतः और गहरा होता है। बच्चों का बचपन संवारना पितृ-ऋण से उदृण होना तो है ही, आज के संदर्भ में यह राष्ट्र निर्माण में बड़ा योगदान है। माता-पिता इसे निभाने में यह याद रख सकते हैं - कौन जानता है कि उनका बच्चा उपलब्धियों की कितनी ऊँचाइयों तक जा सकता है, उसके सामने खुला आकाश है, ठोस जमीन है, उसे पंख चाहिए, मजबूत जड़े चाहिए।

(साभार : पत्रिका)





अपने यहां भी हैं लाखों गुलाम

● प्रवीण कुमार

संयुक्त राष्ट्र ने भी कुछ दिनों पहले कुछ आंकड़े जारी किए थे जिसके मुताबिक दुनिया भर में दो करोड़ लोग अब भी गुलाम हैं। इन गुलामों में बंधुआ मजदूरों को भी शामिल किया गया है। ऐसे मजदूरों की संख्या भारत, पाकिस्तान तथा अन्य दक्षिण एशियाई मुल्कों में अधिक है। यहां बंधुआ मजदूरी की सबसे बड़ी वजह कर्ज है। खेती के काम में लगे मजदूर शुरू में गुजारे के लिए और फिर आगे खाद, बीज, रसायन आदि के लिए कर्ज लेते हैं। धीरे-धीरे कर्ज इतना बढ़ जाता है कि फसल की कटाई के बाद भी उसे चुकाना संभव नहीं होता। महाजन कर्ज न चुका पाने की सजा जीवन भर चौबीसों घंटे की गुलामी के रूप में देता है।

ते | जी से उभरती अर्थव्यवस्था वाला अपना देश कई प्रगतिशील कानूनों के लिए दुनिया भर में सराहा जा रहा है लेकिन प्रगति के कई पैमानों पर इसकी तस्वीर घोर चिंताजनक भी है। यह बात देशी-विदेशी कई संस्थानों द्वारा विभिन्न पैमानों पर जारी रिपोर्ट के जरिए सामने आती रहती है। कुछ समय पहले ऑस्ट्रेलियाई संस्था वॉक फ्री फाउंडेशन ने ग्लोबल स्लेवरी इंडेक्स में भारत को पहले स्थान पर रख हमें सोचने को मजबूर कर दिया कि आखिर क्यों एक उदारवादी और समतामूलक व्यवस्था वाले भारत देश में गुलामी की स्थिति में जीने वाली सबसे ज्यादा लोग हैं। यह सूचकांक कर्ज लेकर बंधुआ बने लोगों, जबरन विवाह और मानव तस्करी के आधार पर बनाया गया है। भारत इसमें टॉप पर है। यहां 40 लाख लोग ऐसे हैं जो गुलामों की जिंदगी जी रहे हैं। हालांकि कुछ आबादी के प्रतिशत के हिसाब से देखें तो हमारा स्थान मॉरीतानिया, हैती और पाकिस्तान के बाद चौथा है। सूचकांक जिन आधारों को लेकर तैयार किया गया है, उनमें केवल एक-‘जबरन विवाह’ वाले पक्ष को देखें तो यह भी लगेगा कि

हमारे यहां गुलामों की तादाद 40 लाख से कहीं अधिक होगी। इसकी पुष्टि हाल ही में संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार परिषद में हुई। उसमें वाल विवाह रोकने से संबंधित जो प्रस्ताव आया, उससे जाहिर हुआ कि हमारे यहां हर साल दो करोड़ चालीस लाख बाल विवाह भारत में होते हैं जो कुल बाल विवाह का चालीस प्रतिशत है। ऐसी स्थिति की वजह सामाजिक पिछड़ापन और परिवार में महिलाओं की दोयम स्थिति है।

वैसे गुलामों को लेकर हमें विश्व स्तर पर एक समग्र नीति अपनाने की जरूरत है। क्योंकि यह समस्या देशी नहीं बल्कि वैश्विक है। सूडान, ब्राजील, पाकिस्तान जैसे कई देशों में तो विशुद्ध रूप से अब तक दास प्रभा कायम है। यहां तक कि मध्यपूर्व तथा कई अन्य देशों में भी प्रवासी कामगारों के साथ जिस तरह का व्यवहार होता है, उसे देख गुलामों में और उनमें फर्क करना मुश्किल है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का एक अध्ययन बताता है कि ब्राजील में इस समय करीब 25 हजार लोग गुलामों का जीवन बिता रहे हैं। इनमें से अधिकांश आमजन इलाके में जंगल काटकर



फसल उगाने या भूमि को चारागाह बनाने में जुटे हैं। ये गुलाम कर्ज न चुका पाने के कारण दास बने हैं और कर्जदारों ने इन पर निगरानी के लिए हथियारबंद लोगों को तैनात कर रखा है। इसी संगठन के एक आंकड़े के अनुसार गत 30 सालों में 500 से अधिक दास इन जमींदारों के हाथों मारे जा चुके हैं। सूडान के संबंध में भी ऐसी ही रिपोर्ट सामने आई है। ब्रिटेन और पूर्वी अफ्रीका में कार्यरत रिफ्ट वैली इंस्टीट्यूट ने सूडान के उत्तरी बहर अल गजल प्रांत में हजारों लोगों से बातचीत के बाद जो रिपोर्ट जारी की, उसके अनुसार यहां 20 वर्षों में लगभग 11,000 लोगों का अपहरण करके उन्हें गुलाम बनाया गया। इनमें से ज्यादातर उत्तरी अरब के लड़ाकू कबीलों द्वारा गुलाम बनाए गए हैं।

संयुक्त राष्ट्र ने भी कुछ दिनों पहले कुछ आंकड़े जारी किए थे जिसके मुताबिक दुनिया भर में दो करोड़ लोग अब भी गुलाम हैं। इन गुलामों में बंधुआ मजदूरों को भी शामिल किया गया है। ऐसे मजदूरों की संख्या भारत, पाकिस्तान तथा अन्य दक्षिण एशियाई मुल्कों में अधिक है। यहां बंधुआ मजदूरी की सबसे बड़ी वजह कर्ज है। खेती के काम में लगे मजदूर शुरू में गुजारे के लिए और फिर आगे खाद, बीज, रसायन आदि के लिए कर्ज लेते हैं। धीरे-धीरे कर्ज इतना बढ़ जाता है कि फसल की कटाई के बाद भी उसे चुकाना संभव नहीं होता। महाजन कर्ज न चुका पाने की सजा जीवन भर चौबीसों घंटे की गुलामी के रूप में देता है। कानून हालांकि इस प्रथा को लेकर काफी सख्त है किंतु शासन की लापरवाही से महाजनों तक कानून के हाथ पहुंच ही नहीं पाते। भारत के गरीब राज्यों में शुमार बिहार का एक मामला तो काफी चौंकाने वाला रहा। यहां जवाहर मांझी नाम के एक व्यक्ति ने गांव के भूस्वामी से अपने घर की एक शादी के लिए 40 किलो चावल उधार लिए थे जिसके एवज में वह तीस बरस से उस भूस्वामी के खेत में मजदूरी करता रहा। बंधुआ मजदूरों का कर्ज कई बार उन्हें गुर्दे बेचने के लिए भी बाध्य करता है। आज अवैध अंग व्यापार की एक बड़ी वजह बंधुआ मजदूरों की बुरी हालत है। मध्यपूर्व के देशों में कई प्रवासी कामगार भी गुलामों सा जीवन जी रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन ह्यूमन राइट्स वॉच ने एक रिपोर्ट में बताया है कि प्रवासी लोगों

खासकर घरेलू नौकरानियों के साथ अरब देशों में गुलामों सा दुर्व्यवहार होता है। कई मामले साबित करते हैं कि उन्हें घरों में कैदी का जीवन जीना होता है। मालिक पासपोर्ट जब्त कर लेते हैं और सारा समय उन्हें मालिक की मर्जी पर गुजारना होता है।

ऐसा नहीं है कि पश्चिमी देशों में इस तरह की अमानवीय घटना नहीं घटती हैं। हाल में अमेरिका में भारतीय मूल के एक दंपति को दो घरेलू नौकरानियों के साथ गुलामों की तरह व्यवहार करने पर दंडित किया गया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जो साबित करते हैं गुलामी का जीवन जीने वाले लोग सारी जगहों पर मौजूद हैं। कानून भले ही बने हों लेकिन इसका पालन सही तरीके से नहीं हो पा रहा है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने ब्राजील में हो रही गुलामी प्रथा पर सरकार के प्रयासों की तो सराहना की, साथ ही भी कहा कि जहां मसला राजनीतिक नेता और न्यायधीशों के पद पर बैठे जमींदारों का होता है, वहां रास्ते में अड़चनें आती हैं। उसे ब्राजील की संसद में अटके कई प्रस्तावित कानूनों का कारण भी यही बताया। कमोवेश ऐसे ही हालात तमाम देशों के हैं। दरअसल बदले हालात में गुलामी प्रथा भिन्न रूप में सही किंतु अपनी मौजूदगी का अहसास लगातार करा रही है। बेरोजगारी और भुखमरी जैसी वैश्विक समस्या के रहते इसका खात्मा संभव भी नहीं। इसके खात्मे के लिए संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों के जरिये गंभीर प्रयास करने होंगे। घरेलू कामगारों के संबंध में ठोस कानून बनाने होंगे। खासकर मध्यपूर्व के देशों को बाध्य करना होगा कि घरेलू कामगारों की दशा पर सख्त निगरानी रखी जाए। पासपोर्ट जमा करा कर काम करने की व्यवस्था खत्म करनी होगी। भारत में हालांकि रोजगार गारंटी योजना के बाद बंधुआ मजदूरी के मामले में कुछ सुधार हुए हैं किंतु समस्या फिर भी बड़ी है। विश्व मानवाधिकार आयोग, संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संगठनों को वैश्विक स्तर पर ऐसी कार्ययोजना बनानी होगी जो इस व्यवस्था पर नए सिरे से सोचे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





आबादी और विकास का रिश्ता

• डॉ. भरत झुनझुनवाला

जनसंख्या के आर्थिक विकास पर उपरोक्त सकारात्मक प्रभाव को देखते हुए चीन की सरकार ने एक संतान नीति में परिवर्तन किया है। अब तक केवल ऐसे दंपति दूसरी संतान उत्पन्न कर सकते थे जिनमें पति और पत्नी दोनों ही अपने पैरेंट्स की अकेली संतान थे। अब इसमें छूट दी गई है। ऐसे दंपति भी दूसरी संतान पैदा कर सकेंगे जिनमें पति अथवा पत्नी में कोई एक अपने पैरेंट्स की अकेली संतान थे। यह सही दिशा में उठाया गया कदम है, लेकिन बहुत आगे जाने की जरूरत है। चीन समेत भारत की समझना चाहिए कि जनसंख्या सीमित करने से आर्थिक विकास मंद पड़ेगा।

1979 में चीन ने एक संतान की नीति लागू की थी। एक से अधिक संतान उत्पन्न करने पर दंपति को भारी जुर्माना अदा करना पड़ता था। फाइन न चुका पाने की स्थिति में जबरन गर्भपात करा दिया जाता था। इस कठोर नीति के कारण चीन की जनसंख्या वृद्धि नियंत्रण में आ गई। वर्तमान में चीन में दंपतियों के औसत 1.8 संतान हैं। दो व्यक्तियों- माँ एवं पिता द्वारा 2 से कम संतान उत्पन्न करने के कारण जनसंख्या का नवीनीकरण नहीं हो रहा है और जनसंख्या कम हो रही है। एक संतान नीति का चीन को लाभ मिला है। 1950 से 1980 के बीच चीन के लोगों ने अधिक संख्या में संतान उत्पन्न की थी। मांओं ने लोगों को अधिक संख्या में संतान पैदा करने को प्रेरित किया था। 1990 में नई पीढ़ी कार्य करने लायक हो गई, परंतु ये लोग कम संख्या में संतान उत्पन्न कर रहे थे, क्योंकि एक संतान की नीति लागू कर दी गई थी। इनकी ऊर्जा संतानोत्पत्ति के स्थान पर धनोपार्जन करने में लग गई। इस कारण 1990 से 2010 के बीच चीन की आर्थिक विकास दर 10 प्रतिशत की अप्रत्याशित दर पर रही। 2010 के बाद

हालात पलटे। 1950 से 1980 के बीच भारी संख्या में जो बच्चे पैदा हुए थे वे अब वृद्ध होने लगे, परंतु 1980 के बाद संतान कम उत्पन्न होने के कारण 2010 के बाद कार्यक्षेत्र में प्रवेश करने वाले वयस्कों की संख्या घटने लगी। उत्पादन में पूर्व में हो रही वृद्धि में ठहराव आ गया, क्योंकि उत्पादन करने वाले लोगों की संख्या घटने लगी। साथ-साथ वृद्धों की देखभाल का बोझ बढ़ता गया, जबकि उस बोझ को वहन करने वाले लोगों की संख्या घटने लगी। वर्तमान में चीन में कार्यरत वयस्कों की संख्या पाँच गुना है। अनुमान है कि इस दशक के अंत तक कार्यरत वयस्कों की संख्या केवल दो गुना रह जाएगी। कई ऐसे परिवार होंगे जिनमें एक कार्यरत व्यक्ति को दो पैरेंट्स और चार ग्रैंड पैरेंट्स की देखभाल करनी होगी। देश के नागरिकों की ऊर्जा उत्पादन के स्थान पर वृद्धों की देखभाल में लगने लगी। कई विश्लेषकों का आंकलन है कि 2010 के बाद चीन की विकास दर में आ रही गिरावट का कारण कार्यरत वयस्कों की यह घटती जनसंख्या है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जनसंख्या नियंत्रण का लाभ अल्पकालिक होता है।



संतान कम उत्पन्न होने पर कुछ दशक तक संतानोत्पत्ति का बोझ घटता है और विकास दर बढ़ती है, परंतु कुछ समय बाद कार्यरत श्रमिकों की संख्या में गिरावट आती है और उत्पादन घटता है। साथ-साथ वृद्धों का बोझ बढ़ता है और आर्थिक विकास दर घटती है। स्पष्ट होता है कि आर्थिक विकास की कुंजी कार्यरत वयस्कों की संख्या है। इनकी संख्या अधिक होने से आर्थिक विकास में गति आती है।

ऐसा ही परिणाम दूसरे देशों के अनुभव से सत्यापित होता है। यूनिवर्सिटी ऑफ मेरीलैंड के प्रो. जूलियन साइमन बताते हैं कि हांगकांग, सिंगापुर, हालैंड और जापान जैसे जनसंख्या-सघन देशों की आर्थिक विकास दर अधिक है, जबकि जनसंख्या न्यून अफ्रीका में विकास दर धीमी है। पॉपुलेशन रिसर्च इंस्टीट्यूट के अनुसार 1900 और 2000 के बीच अमेरिका की जनसंख्या 7.6 करोड़ से बढ़कर 27 करोड़ हो गई है। इस अवधि में औसत आयु 47 वर्ष से बढ़कर 77 वर्ष हो गई है और शेयर बाजार का स्टैंडर्ड एंड पुअर इंडेक्स 6.2 से बढ़कर 1430 हो गया है। सिंगापुर के प्रधानमंत्री के अनुसार देश की जनता को अधिक संख्या में संतान उत्पन्न करने को प्रेरित करना देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। इस आशय से उनकी सरकार ने फर्टिलिटी ट्रीटमेंट, हाउसिंग अलाउंस तथा पैटर्निटी लीव में सुविधाएं बढ़ाई हैं। दक्षिण कोरिया ने दूसरे देशों से इमिग्रेशन को प्रोत्साहन दिया है। इमिग्रेंट्स की संख्या वर्तमान में आबादी के 2.8 प्रतिशत से बढ़ कर 2030 तक 6 प्रतिशत हो जाने का अनुमान है। इंग्लैंड के सांसद केविन रुड ने कहा है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यदि इमिग्रेशन को प्रोत्साहन दिया गया होता तो इंग्लैंड की विकास दर न्यून रहती। स्पष्ट होता है कि जनसंख्या का आर्थिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। बात सीधी सी है। उत्पादन मनुष्य द्वारा किया जाता है। जितने मनुष्य होंगे उतना उत्पादन हो सकेगा और आर्थिक विकास दर बढ़ेगी। उपरोक्त तर्क के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र पॉपुलेशन फंड का कहना है कि जनसंख्या

अधिक होने से बच्चों को शिक्षा उपलब्ध नहीं हो पाती है और उनकी उत्पादन करने की क्षमता का विकास नहीं होता है। मेरी समझ से यह तर्क सही नहीं है।

शिक्षा उपलब्ध कराने के लिए जनसंख्या घटाने के स्थान पर दूसरी अनावश्यक खपत पर नियंत्रण किया जा सकता है, जैसे राजा साहब के महल में स्कूल चलाया जा सकता है। यह भी याद रखना चाहिए कि अर्थव्यवस्था में शिक्षित लोगों की संख्या की जरूरत तकनीकों द्वारा निर्धारित हो जाती है। ट्रैक्टर चलाने के लिए पांच ड्राइवर नहीं चाहिए। ड्राइवर का एम.ए. होना जरूरी नहीं होता है। देश में शिक्षित बेरोजगारों की बढ़ती संख्या इन बात का प्रमाण है कि शिक्षा मात्र से उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है। संयुक्त राष्ट्र का दूसरा तर्क है कि बढ़ती जनसंख्या से जीवनस्तर गिरता है। मैं इससे भी सहमत नहीं हूँ। बढ़ती जनसंख्या यदि उत्पादन में रत रहे तो जीवनस्तर में सुधार होता है। अतः समस्या लोगों की रोजगार दिलाने की है, न कि जनसंख्या की अधिकता की।

जनसंख्या के आर्थिक विकास पर उपरोक्त सकारात्मक प्रभाव को देखते हुए चीन की सरकार ने एक संतान नीति में परिवर्तन किया है। अब तक केवल ऐसे दंपति दूसरी संतान उत्पन्न कर सकते थे जिनमें पति और पत्नी दोनों ही अपने पैरेंट्स की अकेली संतान थे। अब इसमें छूट दी गई है। ऐसे दंपति भी दूसरी संतान पैदा कर सकेंगे जिनमें पति अथवा पत्नी में कोई एक अपने पैरेंट्स की अकेली संतान थे। यह सही दिशा में उठाया गया कदम है, लेकिन बहुत आगे जाने की जरूरत है। चीन समेत भारत की समझना चाहिए कि जनसंख्या सीमित करने से आर्थिक विकास मंद पड़ेगा। जरूरत ऐसी आर्थिक नीतियों को लागू करने की है जिनसे लोगों को रोजगार मिले और वे उत्पादन कर सकें। पर्यावरण पर बढ़ते बोझ को सादा जीवन अपनाकर मैनेज करना चाहिए, न कि जनसंख्या में कटौती करके।

(साभार : दैनिक जागरण)





घटते जंगल और नष्ट होती जड़ी-बूटियां

● ज्ञानेन्द्र रावत

जंगलों के हालात पूरे देश में खराब हैं और जहां तक उत्तराखण्ड का सवाल है, यहां कुल क्षेत्रफल में से 65 फीसद में जंगल हैं। यह 24 हजार वर्ग किमी में फैले हैं। इन जंगलों में लाखों पेड़, पौधे, जड़ी-बूटियों और वन्य जीवों के रूप में खुला खजाना फैला हुआ है। इन पर चारों तरफ से हमले हो रहे हैं। उचित संरक्षण का अभाव है, वहीं दूसरी ओर औषधियों, पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों से भरपूर पहाड़ियां औने-पौने दामों में बिक रही हैं।

जलवायु एवं पर्यावरणीय संकटों से घिरे आज के समय जंगल एक ऐसा मुद्दा है जो जल, जीवन, जीविका, कृषि, जैवविविधता, संस्कृति, स्वास्थ्य, जड़ी-बूटी एवं चिकित्सा, जलवायु आदि पहलुओं से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा है। विश्व खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार भारत में प्रतिवर्ष 4 हजार वर्ग किमी का दर से जंगल घट रहे हैं, यानी भारत में वास्तविक वन अब महज 12 प्रतिशत ही रह गये हैं। दूसरी ओर उत्तराखंड, मध्यप्रदेश, झारखंड, उड़ीसा यानी वे क्षेत्र जहां जंगलों की बहुतायत है वहां जंगलों को बचाने के नाम पर स्थानीय लोगों को प्रताड़ित किया जा रहा है।

उत्तराखंड में महत्वपूर्ण संजीवनी बूटी पर विलुप्ति का खतरा है। कारण एक समय डायनासोर काल से अस्तित्व में रही चमत्कारी संजीवनी का औषधीय इस्तेमाल होने के कारण मौजूदा समय में अत्याधित दोहन हो रहा है। हालत यह है आज संजीवनी के लिए विख्यात पर्वतों से औषधीय गुण वाले पौधे, जड़ी, बूटी आदि अवैज्ञानिक विदोहन व पर्याप्त संरक्षण के अभाव में तेजी से समाप्त होने लगी हैं। नतीजतन आज इसके अस्तित्व पर ही संकट गहरा गया है। यह आयुर्वेद तथा प्राकृति चिकित्सा पद्धति से जुड़े लोगों के लिए चिंता की बात है। इनमें घाव भरने व हृदय

रोग की औषधि में प्रयुक्त होने वाली हाथाजड़ी, सालपंजा, रतनजोत, मानसिक रोगों की औषधि पाती, दमा-गठिया की सोम, शक्तिवर्धक मुरिल्ला, गंदायण, चोरा, जम्बू, गेंठी, जटामांसी, तरणकिन्ती, निर्विरूरी, कुटकी, कुड़ी आदि प्रमुख हैं। ये जड़ी-बूटियां तेजी से समाप्त होती जा रही हैं। आज स्थिति यह है कि यदि पर्वतीय वनक्षेत्र में इनकी तलाश करनी पड़े तो निराशा ही हाथ लगेगी। जबकि यह आज भी उत्तराखण्ड, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश व उड़ीसा के पर्वतीय इलाकों में पायी जाती है। यह भी जानते हैं कि पर्वतराज हिमालय की शिवालिक रेंज की जंगलों से आच्छादित पर्वतीय श्रृंखला आदिकाल से जड़ी-बूटियों व औषधीय पौधों के भंडार से समृद्ध रही है। लेकिन आज कुमायूं मंडल के पर्वतीय जंगलों से यह संजीवनी नष्ट होती जा रही है। इस बारे में अधिकारियों-प्रशासन व वन विभाग को कई बार सूचित किया गया लेकिन कोई कार्यवाही नहीं की गई और न इनके रखरखाव पर ही कोई ध्यान दिया गया।

संजीवनी की यह खासियत है कि यदि इसके सूखे पौधे को पानी मिल जाए तो यह पुनर्जीवित हो जाती है। इसमें मृत हो चुकी कोशिकाओं को बचाने का गुण है। आदिवासी लम्बे समय से यह दावा करते रहे हैं कि संजीवनी मृत कोशिकाओं को पुनर्जीवित कर देती है। राष्ट्रीय वनस्पति



अनुसंधान संस्थान ने पिछले 5-6 साल के शोध के बाद यह प्रमाणित कर दिया है कि संजीवनी मृत कोशिकाओं को स्वस्थ कर देती है। यह संजीवनी बूटी 'टोरिडोफाइटा' समूह की है। वह बात दीगर है कि इस बात कि प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो पाई कि यह वही संजीवनी है जिसका उल्लेख रामायण में किया गया है। डायनासोर काल में संजीवनी के समूह में चार हजार करोड़ से अधिक प्रजातियां थीं लेकिन आज उनमें से मात्र करीब 12 हजार प्रजातियां ही शेष बची हैं जिसमें से कुल 12 सौ प्रजातियां ही हिन्दुस्तान में पाई जाती हैं। हमारे देश में औषधीय पौधों की 47 हजार प्रजातियां हैं लेकिन इनमें से केवल 6 से 7 हजार प्रजातियों का ही हमारे देश में इस्तेमाल हो रहा है। शेष 40 हजार प्रजातियों की उपेक्षा के पीछे अहम् वजह इनके संरक्षण, विकास व अनुसंधान का प्रबंधन न होना है। जिस हिमालय को भारत का जल भंडार कहा जाता है उस पर भी इंसानी खिलवाड़ के चलते बड़ा खतरा मंडराने लगा है। हिमालय के ग्लेशियर तेजी से पिछल रहे हैं जिससे आने वाले समय में जल संकट पैदा होना तय है। ये ग्लेशियर जिन्हें हिमानियां भी कहा जाता है, ये बर्फ के ऐसे पहाड़ हैं जो गरमी के दिनों में पिघलने लगते हैं। इसी से नदियों में पानी का स्तर ग्रीष्म ऋतु में भी बाधित नहीं होता। लगभग साढ़े पन्द्रह हजार ग्लेशियरों में से कई उत्तराखंड के हिमालयी क्षेत्र में हैं। पर्यावरणविद बरसों से चेता रहे हैं कि इनमें से अधिकतर ग्लेशियरों के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है। गंगोत्री, पिंडारी और मिलम प्रदूषण और जनसंख्या के दबाव से लेकर दिनोंदिन बढ़ते इंसानी इस्तक्षेप के चलते सिकुड़ते जा रहे हैं। इतना ही नहीं, हिमालय की आंतरिक संरचना के वैज्ञानिक तथ्यों को जान-बूझकर अनदेखा किया जा रहा है। हिमालय का निर्माण लगभग चार करोड़ वर्ष पहले हुआ। निर्माण की यह जटिल प्रक्रिया अभी जारी है। वैज्ञानिक मानते हैं कि धरती के अंदर किसी भी निर्माण प्रक्रिया के चलते रहने के कारण जो घर्षण उत्पन्न होता है उसके कारण भूकम्प आते हैं। हिमालयी क्षेत्र इस दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील है। यहां पिछले पैंसठ बरसों से पाँच

आने वाले समय में सबसे बड़ा संकट का कारण टिहरी की झील बन सकती है। 260.5 मीटर की ऊँचाई वाला टिहरी बांध विश्व का पांचवें नंबर का सबसे ऊँचा बांध है। जिस भागीरथी के प्रकोप को इस आपदा के दौरान उत्तरखंड ने झेला है, यह बांध उसी भागीरथी को बांध कर बनाया गया है। यह भूकंप की दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील इलाका है। 1991 में यहां रिक्टर पैमाने पर 6.8 की तीव्रता वाला भूकंप आ चुका है।

बड़े भूकम्प यहां आ चुके हैं जिसमें से दो उत्तराखंड में आए थे।

आने वाले समय में सबसे बड़ा संकट का कारण टिहरी की झील बन सकती है। 260.5 मीटर की ऊँचाई वाला टिहरी बांध विश्व का पांचवें नंबर का सबसे ऊँचा बांध है। जिस भागीरथी के प्रकोप को इस आपदा के दौरान उत्तरखंड ने झेला है, यह बांध उसी भागीरथी को बांध कर बनाया गया है। यह भूकंप की दृष्टि से अत्यंत संवेदनशील इलाका है। 1991 में यहां रिक्टर पैमाने पर 6.8 की तीव्रता वाला भूकंप आ चुका है। हालांकि बांध की क्षमता 8.4 की तीव्रता वाले भूकंप को झेलने की बताई जाती है लेकिन पर्यावरणविद मानते हैं कि इस इलाके में कभी भी इससे ज्यादा तीव्रता का भूकंप आ सकता है।

दूसरी तरफ सरकारों की असली मंशा जंगल बचाना नहीं जंगल बेचना की रही है। ऐसे में जंगलों में रहने वाले



सरकार ने जंगलों से जड़ी-बूटियों के विदोहन के लिए राज्य भेषज संघ, कुमायूं मंडल विकास निगम व राज्य वन विकास निगम को मिलाकर कुल तीन एजेंसियों को नामित किया हुआ है लेकिन अवैज्ञानिक विदोहन एवं समुचित संरक्षण के अभाव में पेड़, जड़ी-बूटी तेजी से पहचान करने वाले कर्मचारियों का अभाव तथा संसाधनों की की इनके संरक्षण में सबसे बड़ी बाधा है।



लोगों के अलावा जंगल बचाने की जिम्मेदारी कोई और निभा पाएगा यह सोचना मुश्किल है। यह विडंबना ही कही जाएगी कि आदिवासियों का पारंपरिक ज्ञान, वनाधारित जीवन शैली, वन संरक्षण की उनकी टिकाऊ सोच और दृष्टिकोण की अनदेखी कर वन्यप्राणी, जैव विविधता के नाम पर विदेशी सोच आधुनिक कह कर हम पर लादी जा रही है। अगर वास्तव में आने वाली पीढ़ी के लिए हमें जंगल की विरासत देनी है तो जंगल को महज लाभ के लिए नहीं, जीवन के लिए बचाने की सोच विकसित करनी होगी। दरअसल, जंगल और बाजार दो छोर हैं जिन्हें कभी आपस में नहीं मिलने देना चाहिए।

जहां तक उत्तराखण्ड का सवाल है, यहां राज्य के कुल क्षेत्रफल में से 65 फीसदी में जंगल हैं। यह 24414.804 वर्ग किमी में फैले हैं। इन जंगलों में लाखों पेड़, पौधों,

जड़ी-बूटियों और वन्य जीवों के रूप में खुला खजाना फैला हुआ है। इन पर चारों तरफ से हमले हो रहे हैं। एक ओर इनके उचित संरक्षण का अभाव है, वहीं दूसरी ओर औषधियों, पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों से भरपूर पहाड़ियां औने-पौने दामों में बि रही हैं। कहीं रिसॉर्ट बन रहे हैं, तो कहीं धनाढ्य अपनी तफरीह के लिए ऐशगाह बनाने की खातिर उन्हें मुंहमांगी कीमत पर खरीद रहे हैं। विडम्बना देखिए कि वनसंपदा और वन्यजीवों की रखवाली करने वालों के हाथ खाली हैं, उनके पास हथियारों का अभाव है। वन विभाग में उपलब्ध हथियारों पर नजर डालें तो इनकी संख्या महज 1140, है जबकि विभाग में 2629 फॉरेस्ट गार्ड व 1818 रेंजर, डिप्टी रेंजर तथा फारेस्टर हैं। पूरे सूबे में विभाग के 13 मंडलों में से चार के पास तो एक भी हथियार नहीं है जबकि तीन में यह संख्या नगण्य है।

उत्तराखण्ड सरकार ने जंगलों से जड़ी-बूटियों के विदोहन के लिए राज्य भेषज संघ, कुमायूं मंडल विकास निगम व राज्य वन विकास निगम को मिलाकर कुल तीन एजेंसियों को नामित किया हुआ है लेकिन अवैज्ञानिक विदोहन एवं समुचित संरक्षण के अभाव में पेड़, जड़ी-बूटी तेजी से पहचान करने वाले कर्मचारियों का अभाव तथा संसाधनों की की इनके संरक्षण में सबसे बड़ी बाधा है। इस बारे में वैज्ञानिकों का कहना है कि नियमानुसार जड़ी-बूटी का दोहन कराने के लिए स्थानीय व प्रशिक्षित कर्मचारियों का चयन किया जाना चाहिए जो हो नहीं रहा। इसके अभाव में संजीवनी जैसी औषधिक का वैज्ञानिक तरीके से विदोहन नहीं हो पा रहा है। इसका संजीवनी के अकूत भंडार पर खासा दुष्प्रभाव पड़ रहा है। नतीजतन अब चमत्कारी संजीवनी समाप्ति की ओर है। दुख इस बात का है कि सरकार इस ओर से पूरी तरह उदासीन रवैया अपनाए हुए है। यदि समय रहते इस दिशा में त्वरित कार्यवाही नहीं की गई तो वह दिन दूर नहीं जब संजीवनी का केवल नाम ही रह जाएगा।

(साभार : पीपुल्स समाचार)





जीने के लिए बचा लो पानी

● सुषमा वर्मा



देश में उपलब्ध पानी का 89 प्रतिशत हिस्सा तो केवल खेती में खप जाता है। शेष बचे जल में से छह प्रतिशत उद्योगों और पांच प्रतिशत पीने के काम आता है। हम यहां सिर्फ पांच प्रतिशत पेयजल और इससे जुड़े कारोबार का ही बात करेंगे। जनता को स्वच्छ पेयजल मुहैया कराना किसी भी सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारी होती है लेकिन हमारे देश की सरकार इस दायित्व से कब की पल्ला झाड़ चुकी है।



सु | नते आए हैं कि तीसरा युद्ध पानी को लेकर लड़ा जाएगा। पानी की मौजूदा स्थिति को देखकर यह भविष्यवाणी सच लगती है। वास्तव में जल युद्ध शुरू हो चुका है। यह बात अलग है कि पानी पर कब्जा करने के लिए कॉरपोरेट जगत के बीच छिड़ी जंग में गोलियों की गूंज सुनाई नहीं पड़ती। पहले दो युद्ध यूरोप में लड़े गए थे जबकि पानी की लड़ाई एशियाई देशों में लड़ी जा रही है। यहां भारत और चीन इस युद्ध के केन्द्र बिंदु हैं। दोनों देशों की घनी आबादी और पेयजल की भारी किल्लत के कारण देशी-विदेशी कंपनियां तेजी से पैर पसार रही हैं। हिन्दुस्तान का उदाहरण ही लें। कभी कुओं, बावड़ियों, तालाब और झरनों से अपनी प्यास बुझाने वाले करोड़ों लोग आज बगल में पानी की बोतल दबाकर घर से बाहर निकलते हैं। बोतल बंद पानी का बाजार शहरों ही नहीं, गांवों में भी पैर पसार चुका है। लोगों को लगता है कि नलों और कुओं का पानी जहर है।

दुनिया की 16 प्रतिशत जनसंख्या अकेले हिन्दुस्तान में रहती है जबकि उसका भूभाग है सिर्फ चार फीसदी। पानी की खपत की दृष्टि से विश्व में हमारा दूसरा स्थान

है। फिर भी प्रति व्यक्ति पेयजल उपलब्धता की स्थिति चिंताजनक है। सन् 1951 में जब देश की आबादी 36 करोड़ थी तब प्रति व्यक्ति 5177 क्यूबिक लीटर पेयजल उपलब्ध था। सन् 2011 में आबादी बढ़कर 1.21 अरब हो गई जबकि पेयजल उपलब्धता घटकर 1150 क्यूबिक लीटर रह गई। पिछले साठ साल में प्रति व्यक्ति पानी की खपत में 70 फीसदी कटौती हो चुकी है और स्थिति अब खतरे के निशान के निकट है। औद्योगिक कचरे और खेती में रासायनिक खाद के अंधाधुंध इस्तेमाल से हमारे अधिकांश जल स्रोत प्रदूषित हो चुके हैं। नदियों में इतना जहर घुल चुका है कि उनका पानी पीने लायक तो क्या, नहाने लायक भी नहीं रहा है।

हमारे देश में उपलब्ध पानी का 89 प्रतिशत हिस्सा तो केवल खेती में खप जाता है। शेष बचे जल में से छह प्रतिशत उद्योगों और पांच प्रतिशत पीने के काम आता है। हम यहां सिर्फ पांच प्रतिशत पेयजल और इससे जुड़े कारोबार का ही बात करेंगे। जनता को स्वच्छ पेयजल मुहैया कराना किसी भी सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारी होती है लेकिन हमारे देश की सरकार इस दायित्व से कब



अस्सी के दशक में पीवीसी पैकिंग का कारोबार फैला तो बोतल बंद पानी के व्यापार के पैर जमने शुरू हो गए। हरित क्रांति से देश खाद्यान्न के मोर्चे पर आत्मनिर्भर हो गया लेकिन रासायनिक खाद के इस्तेमाल से जमीन के नीचे मौजूद जल में जहर घुलने लगा। धीरे-धीरे यह पानी सीधे पीने लायक नहीं रहा।



की पल्ला झाड़ चुकी है। उदारीकरण का दौर शुरू होने के बाद से पानी के कारोबार को मानो पंख लग गए। अप्रैल 2010 में सरकार ने जल क्षेत्र में शत-प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की इजाजत भी दे दी। मजे की बात यह है कि बिना कारगर नियामक संस्था बनाए जल जैसे जीवन के लिए जरूरी क्षेत्र को विदेशी पूंजी के पंजों में सौंप दिया गया। पानी राज्यों की विषय सूची में आता है इसलिए केन्द्र का तर्क है कि नियामक संस्था गठित करने का दायित्व राज्य सरकारों का है।

अस्सी के दशक में पीवीसी पैकिंग का कारोबार फैला तो बोतल बंद पानी के व्यापार के पैर जमने शुरू हो गए। हरित क्रांति से देश खाद्यान्न के मोर्चे पर आत्मनिर्भर हो गया लेकिन रासायनिक खाद के इस्तेमाल से जमीन के नीचे मौजूद जल में जहर घुलने लगा। धीरे-धीरे यह पानी सीधे पीने लायक नहीं रहा। परिणामस्वरूप बोतल बंद पानी की बिक्री ने जोर पकड़ा और तीन दशक में यह धंधा देश के कोने-कोने में फैल गया। आज हमारे यहां बोतल बंद पानी का कारोबार लगभग एक खरब रुपए का है और इसमें 40-50 फीसदी की तूफानी रफ्तार से इजाफा हो रहा है। देश में करीब दो सौ ब्रांड का बोतल बंद पानी उपलब्ध है। इस कारोबार में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ-साथ बड़े घरेलू औद्योगिक घराने भी शामिल हैं।

पानी के व्यापार में आज घमासान मचा है। देश में मौजूद 15 बड़ी कंपनियों की मुट्ठी में 30 फीसदी बाजार हैं

जबकि 200-250 मझोली कंपनियों के हिस्से में बाजार का 50 प्रतिशत भाग है। शेष बीस फीसदी हिस्से की जंग 600-650 छोटी कंपनियों के बीच लड़ी जा रही है। देश में बोतल बंद पानी को लगभग 1200 फैक्टरियां हैं जिनमें से आधी अकेले तमिलनाडु में हैं। चेन्नई के आस-पास ही करीब दो सौ फैक्टरियों का जाल बिछा है जो बड़ी बेदरती से भूजल का दोहन कर रही हैं लेकिन बोतल बंद पानी की गुणवत्ता की कोई गारंटी नहीं है। सन् 2003 में सेंटर फार साइंस एंड एन्वायरमेंट ने बाजार में बिक रही पानी की नमी बोतलों का परीक्षण किया तो लगभग सभी का पानी शुद्धता के मापदंड पर फेल हो गया। इस खुलासे से हंगामा मच गया, संसद में चर्चा हुई और एक जांच समिति भी गठित हुई। इस समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशों की, जिन पर आज भी आधे-अधूरें मन से अमल रहा है।

दुनिया में 97.5 प्रतिशत खारा समुद्री जल है जो पीने लायक नहीं है। कुल उपलब्ध पानी में मीठे जल की मात्रा महज 2.5 फीसदी है जिसमें 30.1 प्रतिशत भूजल और 68.7 ग्लेशियर की हिस्सेदारी है। अन्य स्रोतों से प्राप्त पेयजल 1.2 फीसदी है। लगातार बढ़ती आबादी और औद्योगिकीकरण के कारण शुद्ध पानी का संकट निरंतर गहराता जा रहा है। दुनिया में 1.21 अरब लोगों को पीने का साफ पानी मिल पाता है। विश्व में सबसे ज्यादा मरीज जल-जनित बीमारियों के शिकार होकर मर जाते हैं। बोतल बंद पानी का बाजार तेजी से करवट ले रहा है। जमीन के नीचे से निकाले गए इस प्राकृतिक पानी का मूल्य ट्रीटमेंट वाले जल के मुकाबले पांच से दस गुना ज्यादा होता है। मतलब नेचुरल पानी की एक लीटर बोतल की कीमत 50 रुपए से शुरू होकर 150 रुपए के बीच होती है। पांच सितारा विदेशी होटलों और महंगे रेस्टोरेंट्स में पानी का मेन्यू कार्ड अलग से मिलता है। यह पानी शराब से महंगा होता है।

(साभार : नई दुनिया)





सामाजिक उत्तरदायित्व जरूरी

● जयंतिलाल भंडारी

हा | ल ही में राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संस्थान के सर्वे में बताया गया कि भारत में अमीर व गरीब वर्ग के बीच असमानता की खाई तेजी से बढ़ने का सिलसिला जारी है। एक ओर देश में कॉरपोरेट जगत छलांगें लगाकर आगे बढ़ रहा है, वहीं दूसरी ओर आम आदमी की आर्थिक मुश्किलें भी बढ़ रही हैं। ऐसे में देश में कॉरपोरेट जगत के सामाजिक उत्तरदायित्व (सीएसआर) की नई जरूरतें उभर सामने आई हैं। ज्ञातव्य है कि सीएसआर किसी तरह का दान नहीं है। दरअसल यह सामाजिक जिम्मेदारियों के साथ कारोबार करने की व्यवस्था है। कॉरपोरेट जगत की जिम्मेदारी है कि वह स्थानीय समुदाय और समाज के विभिन्न वर्गों के बेहतर जीवन के लिए सकारात्मक भूमिका निभाए। लेकिन भारत का कॉरपोरेट जगत अनैतिक तरीके से धन कमाने की दृष्टि से दुनियाभर में चर्चा का केन्द्र भी बना हुआ है। अकेले 2जी और कोलगेट ने ही कई औद्योगिक घरानों को लपेटे में ले लिया है। कई ऐसे क्षेत्र भी हैं, जिनमें कॉरपोरेट जगत के लोगों को बड़ी मात्रा में काले धन का सृजन करते हुए पाया गया है। स्थिति यह है कि अक्टूबर 2011 में वॉल स्ट्रीट पर कब्जे के साथ अमेरिका से शुरू हुआ कॉरपोरेट जगत के खिलाफ लोगों का आंदोलन दुनियाभर के जिन 80 देशों में फैल चुका है, उनमें भारत भी शामिल है। भारत में आंदोलनकारियों का कहना है कॉरपोरेट क्षेत्र के 1 फीसदी लोग शेष 99 फीसदी का शोषण कर रहे हैं।

गौरतलब है कि भारत के कॉरपोरेट जगत के कुछ नामचीन लोगों ने सामाजिक उत्तरदायित्व और परोपकार की दिशा में बड़े कदम भी उठाए हैं। वर्ष 2010 में भारत के कॉरपोरेट जगत की घरेलू बचत का 2.3 फीसदी सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति में खर्च हो रहा था। यह आंकड़ा 2012 में बढ़कर 3.5 फीसदी हो गया है। यद्यपि एक लम्बे समय से भारत के बड़े कारोबारी घराने मंदिरों, धर्मशालाओं और दवाखानों में भारी धन खर्च करते रहे हैं, लेकिन अब सामाजिक उत्तरदायित्व के तहत नए कदम जरूरी हैं। ये

कदम प्रमुख रूप से देश के आम आदमी के बेहतर जीवन स्तर और नई पीढ़ी को मानव संसाधन (ह्यूमन रिसोर्स) बनाने से संबंधित होने चाहिए। वस्तुतः देश की नई पीढ़ी को प्रतिभा संपन्न बनाकर पेशेवर (प्रोफेशनल) के रूप में तैयार करना देश की प्रमुख आर्थिक-सामाजिक जरूरत है। प्रतिवर्ष देश में केवल सात फीसदी प्रतिभाशाली विद्यार्थी ही प्रोफेशनल बन पा रहे हैं और अपनी योग्यता से दुनिया को लोहा मनवाते हुए दिखाई दे रहे हैं। अतएव कॉरपोरेट जगत के द्वारा युवाओं को मानव संसाधन बनाने के लिए वित्तीय सहयोग और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए अधिक से अधिक प्रयासों की जरूरत है। अभी सामाजिक उत्तरदायित्व और परोपकार पर खर्च की जाने वाली कुल राशि का मात्र सात फीसदी ही शिक्षा पर खर्च हो रहा है। इसे दो-तीन गुना किए जाने से नई पीढ़ी भारी लाभान्वित होगी। उल्लेखनीय है कि कंपनी बिल 2011 को लोकसभा में स्वीकृति मिलने के बाद अब नए वित्तीय वर्ष 2014-15 से 5 करोड़ से अधिक लाभ कमाने का 2 प्रतिशत खर्च करना अनिवार्य हो गया है। इस तरह की कंपनियों को अपने कॉरपोरेट विरोधी आंदोलन उठ खड़ा हुआ है, तब कॉरपोरेट जगत को अवश्य जाग जाना चाहिए और यह महसूस करना चाहिए कि नई सामाजिक जरूरतों की पूर्ति में कॉरपोरेट जगत के लोगों की व्यक्तिगत और सामूहिक भूमिका आवश्यक हो गई है। निसंदेह अब देश में सामाजिक उत्तरदायित्व एक महत्वपूर्ण आवश्यकता के रूप में उभरकर दिखाई दे रहा है और सरकार के साथ कॉरपोरेट जगत को भी गंभीरतापूर्वक इस डगर पर आगे बढ़ना होगा। सरकार और बाजार नियामक सेबी को भी निजी क्षेत्र में काम करने वाले सीईओ और अन्य कर्मचारियों की वेतन असमानता को कम करने और उच्चाधिकारियों के वेतन पैकेज में गोपनीयता बरतने की प्रवृत्ति को रोकने पर ध्यान देना होगा।

(साभार : पत्रिका)

□ □ □



जनसंख्या वृद्धि और बढ़ती चुनौतियां

● ज्ञानेन्द्र रावत

एशिया प्रशांत क्षेत्र सबसे ज्यादा इन चुनौतियों से जूझ रहा है। इनमें ग्रामीण आबादी का पलायन और शहारी आबादी में बेतहाशा बढ़ोतरी, भोजन, पानी, स्वास्थ्य और चिकित्सा संबंधी रोजाना की जरूरतों की आपूर्ति, जलवायु परिवर्तन से बिगड़े पर्यावरणीय माहौल को लेकर महानगरों की संवेदनशीलता से जूझना, ऊर्जा की बढ़ती जरूरत का मुकाबला, परिवहन, औद्योगिक संसाधन और इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ऊर्जा आपूर्ति, कार्बन उत्सर्जन के चलते ग्लोबल वार्मिंग में वृद्धि और जलवायु से जुड़े भीषण खतरे आदि चुनौतियां प्रमुख रूप से हमारे सामने मुंह बाये खड़ी हैं।

जनसंख्या वृद्धि विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ की मानें तो आज विश्व की जनसंख्या सात अरब को पार कर गई है। चिंता की बात यह है कि यह बेतहाशा बढ़ रही है। फिल्हाल जनसंख्या वृद्धि किसी भी दौरे से ज्यादा हो रही है। बावजूद इसके जनसंख्या वृद्धि दर में सालाना कमी दर्ज की गयी है। अभी वैश्विक आबादी में हर साल साढ़े आठ से नौ करोड़ की बढ़ोतरी हो रही है। भविष्य में कुछ बड़े अफ्रीकी और दक्षिण एशियाई देश वैश्विक आबादी की ओर तेजी से बढ़ायेंगे। इसमें खासतौर से भारत शामिल है। असलियत में जिस तरह जनसंख्या वृद्धि एक चुनौती है, ठीक उसी तरह इसके साथ-साथ इससे उपजी चुनौतियां का सामना कर पाना भी समूचे विश्व के लिए आसान नहीं है। ये चुनौतियां बहुत बड़ी समस्या का रूप धारण कर चुकी हैं।

एशिया प्रशांत क्षेत्र सबसे ज्यादा इन चुनौतियों से जूझ रहा है। इनमें ग्रामीण आबादी का पलायन और शहारी आबादी में बेतहाशा बढ़ोतरी, भोजन, पानी, स्वास्थ्य

और चिकित्सा संबंधी रोजाना की जरूरतों की आपूर्ति, जलवायु परिवर्तन से बिगड़े पर्यावरणीय माहौल को लेकर महानगरों की संवेदनशीलता से जूझना, ऊर्जा की बढ़ती जरूरत का मुकाबला, परिवहन, औद्योगिक संसाधन और इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ऊर्जा आपूर्ति, कार्बन उत्सर्जन के चलते ग्लोबल वार्मिंग में वृद्धि और जलवायु से जुड़े भीषण खतरे आदि चुनौतियां प्रमुख रूप से हमारे सामने मुंह बाये खड़ी हैं। हालत यह है कि देश के कई बड़े राज्यों में नाटकीय ढंग से ग्रामीण आबादी में गिरावट दर्ज की गई है। विडम्बना यह है कि उन राज्यों के पास काफी उपजाऊ जमीन है और वहां खेती का काफी पुराना इतिहास है। वैश्विक दृष्टि से यदि इतिहास पर नजर डालें तो वर्ष 1800 में दुनिया की तीन फीसदी से भी कम आबादी शहरों में रहती थी जबकि वर्ष 2008 के आखिर तक शहरी आबादी का यह आंकड़ा 50 फीसदी को भी पार कर चुका था। आज हालत यह है कि अब इस क्षेत्र में एक करोड़ या उससे अधिक आबादी वाले 26 महानगर हो गए हैं। इनमें टोकियो,



सियोल, गुआनजाओ, शंघाई, मुंबई, दिल्ली, जकार्ता, मनीला, कराची, कोलकाता, बीजिंग, ओसाका और ढाका शामिल हैं। इसमें दो राय नहीं है कि मौजूदा हालात में महानगरों की आर्थिक कामयाबी के बावजूद समूची दुनिया की सरकारें बुनियादी सवालों से हर स्तर पर जूझ रही हैं।

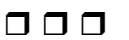
गौरतलब है कि इस सदी के दौरान दुनिया में जिस तरह महानगरों की तादाद बढ़ेगी, ठीक उसी तरह बहुतेरे कई और शहरों की आबादी में भी बढ़ोतरी होगी। परिणामस्वरूप वहां ऊर्जा की मांग में बढ़ोतरी होगी, वहीं खाद्य आपूर्ति, पानी, औद्योगिक संसाधन, परिवहन और इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ऊर्जा पर जोर रहेगा। हमारे सामने कार्बन उत्सर्जन ग्लोबल वार्मिंग की एक वजह है ही, जलवायु से जुड़े खतरों से भी हम जूझ रहे हैं। इस दौरान शहरों का तापमान वैश्विक व राष्ट्रीय भूमि क्षेत्र के तापमान की वृद्धि दर से दुगुनी-तिगुनी दर से बढ़ रहा है। इसे हीट आइलैंड कहते हैं। इसके अलावा जैसे चीन को देखिए, वहां ग्रामीण अंचल से पलायन के लिए ग्रामीणों को सब्सिडी दी जाती है, नतीजन वहां केवल पांच सालों में ही जहां शहरों की तादाद दोगुनी हुई, वहीं आबादी में भी दोगुने से भी ज्यादा इजाफा हुआ। जापान को लें, वहां पिछले सालों में आए भीषण सुनामी में टोकियो को यह सोचने पर विवश कर दिया कि वह परमाणु ऊर्जा और शहरों की सुरक्षा के प्रति अपने नजरिये पर पुर्नविचार करे और नयी परिस्थितियों के मद्देनजर अपनी नीतियां और सोच का निर्धारण करे। ठीक इसी तरह वर्ष 2003 में पेरिस में लू के भयंकर प्रकोप से सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। इसका प्रमुख कारण यह रहा कि वहां के समाज और स्थानीय प्रशासन ने इस तरह के मौसमी प्रकोप से लड़ने की तैयारी नहीं की थी। ऐसी दशा में उनकी स्थिति एक असहाय मूकदर्शक की सी बनी रही। इसलिए इन स्थितियों से भी निपटने के लिए तैयार रहना होगा।

यह सच है कि प्राकृतिक आपदाओं से उतनी ही बड़ी

तबाही होगी जितना बड़ा शहरी इलाका होगा। उस दशा में चेतावनी प्रणाली भी जानमाल की हिफाजत कर पाने में नाकाम रहती है। अक्सर देखा गया है कि आंधी, तूफान और बाढ़ के संयुक्त खतरों से आगाह होने के बावजूद लोगों के पास कम वक्त मिल पाता है कि वे सुरक्षित इलाकों में समय रहते पनाह ले सकें, शहरों पर बढ़ते दबाव के चलते यह बेहद जरूरी है कि आपात स्थिति के लिए शरण स्थलों का निर्माण हो। इस दिशा में बांग्लादेश का उदाहरण दिया जा सकता है। वहां बनाये गए शरण स्थलों ने वहां की एक बड़ी आबादी को बाढ़ और चक्रवात जैसी आपदाओं से बचाया है। आज दुनिया के सामने समुद्र और नदियों के किनारे बसे अपने तटीय इलाकों व महानगरों को सुरक्षित रख पाना, कैटरिना जैसे तूफानों और बाढ़ बचाव, टारनेडो का खतरा, समुद्र के बढ़ते जलस्तर से होने वाली फसलों की बर्बादी आदि से निपटने की दिशा में चेतावनी तंत्र की बेहद जरूरत है।

इस दिशा में दुनिया के वैज्ञानिक इन खतरों से निपटने की पुरजोर कोशिश कर रहे हैं। ताकि एक ऐसी प्रणाली तैयार की जा सके जिससे हादसों के पूर्व चेतावनी जारी की जा सके जिससे हादसों के पूर्व चेतावनी जारी की जा सके और समय रहते निगरानी रख सकें। बैंकाक की बाढ़, न्यू ओरलेंस में आए कैटरिना, तूफान आदि इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय न तो उचित सुरक्षा इंतजाम थे और न ही बाढ़ चेतावनी तंत्र। पिछले सालों में ह्यूस्टन और फिलीपीन्स आदि में आए तूफान ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है। इंग्लैण्ड का कैनवे द्वीप इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है जहां पर चारो ओर से किलेबंदी कर दी गई है ताकि वह 1953 की तर्ज पर आई बाढ़ का मुकाबला कर सके। बीते साल उदाहरण हैं कि विश्व के अनेक महानगर और वहां की सरकारें अचानक आयी विपदाओं का मुकाबला कर पाने में नाकाम रही हैं।

(साभार : नवभारत)





स्तरनाक स्तर तक पहुंचता प्रदूषण

● अरविंद जयतिलक

दुनिया में हर दिन करोड़ों मोटरवाहन सड़क पर चलते हैं। इनके धुएं के साथ सीसा, कार्बन मोनोक्साइड तथा नाइट्रोजन ऑक्साइड के कण निकलते हैं। ये दूषित कण मानव शरीर में कई तरह की बीमारियां पैदा करते हैं। कारखानों और विद्युत गृहों की चिमनियों तथा स्वचालित मोटरगाड़ियों में विभिन्न ईंधनों का पूर्ण और अपूर्ण दहन भी प्रदूषण को बढ़ाता है।

वै | श्विक स्तर पर पर्यावरण प्रदूषण से निपटने की ठोस रणनीति न होने का परिणाम है कि हर वर्ष लाखों लोग गंभीर बीमारियों की चपेट में आ रहे हैं और हजारों लोग काल के शिकार बन रहे हैं। पिछले दिनों एनवायरमेंटल रिसर्च लेटर्स जर्नल के एक शोध से खुलासा हुआ है कि दुनियाभर में प्रदूषण से तकरीबन छब्बीस लाख लोगों की मौत होती है। यूनिवर्सिटी ऑफ कैरोलीन के विद्वान जैसन वेस्ट का अध्ययन बताता है कि इनमें से ज्यादातर मौतें दक्षिण और पूर्व एशिया में हुई हैं। आंकड़े बताते हैं कि हर साल मानवजनति वायु प्रदूषण से तकरीबन 4.7 लाख और औद्योगिक इकाइयों से उत्पन्न प्रदूषण से 21 लाख लोग दम तोड़ते हैं। शोध में कहा गया है कि अगर इससे निपटने की तत्काल वैश्विक रणनीति तैयार नहीं हुई तो भविष्य में बड़ी वैश्विक जनसंख्या प्रदूषण की चपेट में होगी। वर्ल्ड हेल्थ आर्गनाइजेशन की इंटरनेशनल एजेंसी फॉर रिसर्च ऑन कैंसर ने भी दूषित हवा को कैंसर का बड़ा कारण माना है जबकि अभी तक कैंसर के लिए तंबाकू और रेडिएशन को ही सर्वाधिक जिम्मेदार माना जाता रहा है।

शोध से यह भी खुलासा हुआ है कि भारत के

विभिन्न शहर प्रदूषण की चपेट में है। उपग्रहों से लिए गए आंकड़ों के आधार पर तैयार रिपोर्ट के मुताबिक कोलकाता और दिल्ली देश में सबसे प्रदूषित हवा वाले शहर हैं। आईसीएमआर के आंकड़ों के अनुसार भारत में 2009 से 2011 के बीच फेफड़ों के कैंसर के सबसे अधिक मामले दिल्ली, मुंबई और कोलकाता में ही सामने आए हैं। सीएसई यानी सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरमेंट का आंकलन है कि देश में 2026 तक चौदह लाख लोग किसी न किसी तरह के कैंसर से पीड़ित होंगे। सीएसई की महानिदेशक सुनीता नारायण ने सरकार को आगाह किया है कि वह प्रदूषण कम करने के लिए ठोस कदम उठाए। उन्होंने सुझाव दिया है कि हर शहर में वाहनों के लिए यूरो-4 नियम लागू करना चाहिए। लेकिन विडंबना है कि इसे लेकर सरकार अभी गंभीर नहीं दिख रही है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि जब भी वायुमंडल में गैसों का अनुपात संतुलित नहीं रह जाता है। तब प्रदूषण की संभावना बढ़ जाती है। हाल के वर्षों में वायुमंडल में ऑक्सीजन की मात्रा घटी है और दूषित गैसों की मात्रा बढ़ी है। कार्बनडाई ऑक्साइड की मात्रा में तकरीबन 25 फीसदी की वृद्धि हुई है। इसका मुख्य कारण बड़े काल-कारखानों और उद्योगधंधों में कोयले एवं खनिज तेल का



उपयोग है। इनके जलने से सल्फरडाई ऑक्साइड निकलती है जो मानव जीवन के लिए बेहद खतरनाक है।

भारत समेत दुनिया में हर दिन करोड़ों मोटरवाहन सड़क पर चलते हैं। इनके धुएं के साथ सीसा, कार्बन मोनोक्साइड तथा नाइट्रोजन ऑक्साइड के कण निकलते हैं। ये दूषित कण मानव शरीर में कई तरह की बीमारियां पैदा करते हैं। कारखानों और विद्युत गृहों की चिमनियों तथा स्वचालित मोटरगाड़ियों में विभिन्न ईंधनों का पूर्ण और अपूर्ण दहन भी प्रदूषण को बढ़ाता है। 1984 में भोपाल स्थित यूनियन कार्बाइड के कीटनाशक कारखाने से विषैली गैस के रिसाव से हजारों व्यक्ति मौत के मुंह में चले गए और हजारों लोग अपंगता का दंश झेल रहे हैं। इसी प्रकार 1986 में अविभाजित सोवियत संघ के चेरनोबिल परमाणु रिएक्टर में रिसाव होने से लाखों लोग प्रभावित हुए। इन घटनाओं के लिए वायु प्रदूषण ही जिम्मेदार है।

वायु प्रदूषण से न केवल मानव समाज को बल्कि प्रकृति को भी भारी नुकसान पहुंच रहा है। जब भी वर्षा होती है तो वायुमंडल में मौजूद विषैले तत्व वर्षा जल के साथ मिलकर नदियों, तालाबों, जलाशयों और मिट्टी को प्रदूषित कर देते हैं। अम्लीय वर्षा का जलीय तंत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। नार्वे, स्वीडन, कनाडा और अमेरिका की महान झीलें अम्लीय वर्षा से प्रभावित हैं। अम्लीय वर्षा वनों को भी बड़े पैमाने पर नष्ट कर रही है। यूरोप महाद्वीप में अम्लीय वर्षा के कारण 60 लाख हेक्टेयर क्षेत्र वन नष्ट हो चुके हैं। ओजोन गैस की परत को, जो पृथ्वी के लिए एक रक्षाकवच का कार्य करती है, वायुमंडल की दूषित गैसों के कारण काफी नुकसान पहुंचा है। इससे सूर्य की खतरनाक पराबैंगनी किरणें पृथ्वी पर पहुंचकर तापमान में वृद्धि कर रही हैं। इससे न केवल कैंसर जैसे रोगों में वृद्धि हो रही है बल्कि पेड़ों से कार्बनिक यौगिकों के उत्सर्जन में बढ़ोतरी हुई है। नए शोधों से यह भी जानकारी मिली है जो कि गर्भवती महिलाएं वायु प्रदूषित क्षेत्र में रहती हैं, उनसे जन्म लेने वाले शिशु का वजन सामान्य शिशुओं की तुलना में कम होता है। यह खुलासा

एनवायरमेंटल हेल्थ प्रॉस्पेक्टिव द्वारा नौ देशों में 30 लाख से ज्यादा नवजात शिशुओं पर अध्ययन से हुआ है। शोध के मुताबिक जन्म के समय कम वजन के शिशुओं को आगे चलकर स्वास्थ्य संबंधी विभिन्न समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इनमें मधुमेह और हृदय रोग का खतरा बढ़ जाता है।

वायु प्रदूषण का दुष्प्रभाव ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासतों पर भी पड़ रहा है। पिछले दिनों देश के 39 शहरों की 138 ऐतिहासिक स्मारकों पर वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव का अध्ययन किया गया। इसमें पाया गया कि शिमला, हसन, मंगलौर, मैसूर, कोट्टयम और मदुरै जैसे विरासती शहरों में पार्टिकुलेट मैटर पॉल्यूशन राष्ट्रीय मानक 60 माइक्रोग्राम क्यूबिक मीटर से भी अधिक है। कुछ स्मारकों के निकट तो यह चार गुना से भी अधिक पाया गया। सर्वाधिक प्रदूषण स्तर दिल्ली के लालकिला के आसपास है। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि शहरों के स्मारकों के आसपास रासायनिक और धूल प्रदूषण की जानकारी के बाद भी उनके बचाव पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

ऐसा नहीं है कि प्रदूषण के इन दुष्प्रभावों से निपटने और उस पर रोकथाम के लिए कानून नहीं है। लेकिन सच्चाई यह है कि कानूनों का पालन नहीं हो रहा है। सरकार ने प्रदूषण में कमी लाने के उद्देश्य से तेरह बड़े शहरों समेत राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में चार पहिया और दो पहिया वाहनों के लिए भारत स्टेज-चार और भारत स्टेज-तीन उत्सर्जन नियम 2010 लागू किए। प्रदूषण में कमी लाने के लिए परिष्कृत डीजल और गैसोलिन की आपूर्ति बढ़ाई गई। साथ ही कम्प्रेसड नेचुरल गैस यानी सीएनजी के इस्तेमाल पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। दिल्ली के बाद देश के अन्य बड़े शहर भी मेट्रो ट्रेन लाने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। लेकिन प्रदूषण पर नियंत्रण तब लगेगा जब सरकार और आम लोग अपनी जिम्मेदारियों के प्रति संवेदनशील होंगे।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





तेजाबी हमलों पर चिंता क्यों नहीं जगती

● जाहिद खान

तेजाब काफी समय से महिलाओं पर हमले का आसान हथियार बना हुआ है। एक अनुमान के मुताबिक देश भर में हर साल इस तरह की करीब एक हजार घटनाएं होती हैं। ज्यादातर मामलों में यह तेजाबी हमला, महिला से बदला लेने की गरज से किया जाता है। हमला छोटी-छोटी बातों की वजह से होता है। मसलन किसी का एकतरफा प्रेम ठुकरा देना या अपने पति के अत्याचार से तंग आकर अलग रहना भी युवती या महिला के लिए हमले का सबब बन जाता है। किसी युवती या औरत के चेहरे को विरूप कर देने से उसकी जिंदगी बर्बाद हो जाएगी, अक्सर इस मंशा से तेजाब फेंका जाता है।

महिलाओं पर तेजाबी हमलों को रोकने और तेजाब की बिक्री के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय ने जुलाई में सरकार को जो दिशा-निर्देश जारी किए थे, उससे लगा था कि राज्य सरकारें जल्द अपने यहां इन पर अमल करेंगी और महिलाओं के विरुद्ध ये वहशी हमले रुकेंगे। परंतु चार महीने बाद भी बिहार, जम्मू-कश्मीर और पुडुचेरी के अलावा किसी भी राज्य सरकार ने अपने यहां तेजाब की बिक्री संबंधी दिशा-निर्देश जारी नहीं किए हैं। गौरतलब है कि गाजियाबाद, कानपुर, गुवाहाटी और दिल्ली की चार लड़कियों पर जुलाई के बाद तेजाब से हमले किए गए। गाजियाबाद की जिस लड़की पर 26 जुलाई को हमला हुआ था, उसकी अब तक सर्जरी भी नहीं हो पाई है। इलाज के मामले में यही हाल बाकी पीड़िताओं का भी है। यही वजह है कि सर्वोच्च न्यायालय ने एक बार फिर राज्य सरकारों को तेजाब और दूसरे क्षयकारी पदार्थों की बिक्री के लिए 31 मार्च तक नियम तैयार करने का निर्देश दिया है ताकि इनका दुरुपयोग रोका जा सके।

अदालत ने सभी राज्यों के मुख्य सचिवों और केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासकों को 18 जुलाई के आदेश के तहत दिए गए निर्देशों पर अमल करने और तेजाब की बिक्री को नियंत्रित करने संबंधी केन्द्र सरकार के मॉडल नियमों के अनुरूप यथाशीघ्र नियम तैयार करने का निर्देश दिया है। जस्टिस आर.एम. लोढ़ा की अध्यक्षता वाली पीठ

ने राज्यों के मुख्य सचिवों से कहा है कि वे सभी थानों को निर्देश जारी करें कि तेजाब हमले की एफ.आई.आर. होते ही क्षेत्र के एस.डी.एम. को सूचित किया जाए। एस.डी.एम. सूचना मिलने पर पता लगाए कि हमले में प्रयुक्त तेजाब कहां से आया था। उपलब्धता का स्रोत पता लगने पर जुलाई के अदालती आदेश के मुताबिक संबंधित लोगों पर कार्रवाई की जाए।

गौरतलब है कि सर्वोच्च न्यायालय 2006 में तेजाब के हमले से जख्मी एक नाबालिग बच्ची की जनहित याचिका पर सुनवाई कर रहा है। सुनवाई के दौरान अदालत ने इससे पहले सरकार को इस बारे में कड़े कदम उठाने के भी निर्देश दिए थे। जिसके जवाब में केंद्र सरकार ने उच्चतम न्यायालय को सूचना देते हुए कहा था कि उसने तेजाब और दूसरे विषाक्त पदार्थों की खुदरा बाजार में बिक्री को नियंत्रित करने के लिए मौजूदा कानून के तहत ही नए नियम बना दिए हैं। गृह मंत्रालय ने रसायन व उर्वरक मंत्रालय से परामर्श कर जहर कानून, 1919 के तहत प्रदत्त अधिकारों के अनुसार विषाक्त पदार्थ रखने और उनकी बिक्री के नियम 2013 तैयार किए हैं। बहरहाल केन्द्र सरकार ने जो नियम बनाए थे, उसने उन्हें सभी राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों के पास स्वीकृति के लिए भेज दिया है और उसकी एक विस्तृत अधिसूचना भी पूरे देश में जारी कर दी है। बावजूद इसके इस दिशा में अपेक्षित परिणाम नहीं आए हैं।



याचिकाकर्ता की वकील ने अदालत से कहा कि ज्यादातर राज्यों ने तेजाब बिक्री संबंधी अदालती आदेश के अनुपालन की रिपोर्ट दाखिल नहीं की है।

याचिकाकर्ता की वकील ने पीड़िताओं के इलाज का भी मुद्दा उठाते हुए कहा तेजाब हमले में लंबे समय तक इलाज और महंगी प्लास्टिक व कॉस्मेटिक सर्जरी की जरूरत होती है। लेकिन ज्यादातर राज्य सरकारें मुफ्त इलाज के मुद्दे पर मौन हैं। सिर्फ हरियाणा के महिला एवं बाल कल्याण विभाग की ओर से दाखिल हलफनामे में राज्य सरकार की ऐसी योजना का जिक्र किया गया है जिसमें पीड़िता को मुफ्त इलाज और प्लास्टिक व कॉस्मेटिक सर्जरी देने की बात कही गई है। इस योजना का मकसद पीड़िता को मनोवैज्ञानिक उपचार देना है, ताकि वे इस सदमे से उबर सकें। अदालत ने हरियाणा सरकार की इस योजना की सराहना की और केंद्र सरकार को निर्देश दिया कि वह इसे सभी राज्यों के मुख्य सचिवों और केंद्र शासित प्रदेशों के प्रशासकों को भेजे। मामले में आगे की सुनवाई 15 अप्रैल को होगी, तब तक अदालत ने राज्यों के मुख्य सचिवों को इस पर किए काम का ब्यौरा, उसे सौंपने को कहा है। गौरतलब है कि देश में महिलाओं पर तेजाब के हमलों की घटनाओं पर अंकुश लगाने के इरादे से शीर्ष अदालत ने 18 जुलाई को ऐसे हमले रोकने के लिए तेजाब की बिक्री नियमित करने के बारे में विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किए थे। इनमें तेजाबी हमले को गैरजमानती अपराध बनाने और पीड़ित के लिए मुआवजा राशि बढ़ाकर तीन लाख रुपए करने का निर्देश भी शामिल था। पीड़ितों के मुआवजा और पुनर्वास के अलावा सर्वोच्च न्यायालय ने उस वक्त तेजाब की बिक्री और उसके नियमन के लिए भी कुछ दिशा-निर्देश जारी किए थे। अदालत ने आदेश दिया था कि अवैध तेजाब की बिक्री पर प्रतिबंध लगाया जाए और अगर बिना लाइसेंस प्राप्त तेजाब विक्रेता पर पचास हजार का जुर्माना लगाया जाए। अदालत ने नाबालिगों के तेजाब खरीदने पर रोक लगाते हुए आदेश दिया था कि अठारह साल से अधिक उम्र के उन्हीं लोगों को तेजाब बेचा जाए, जिनके पास वैध पहचान-पत्र हो। अपने इस आदेश में अदालत ने सभी राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों को निर्देश दिया था कि वे तीन महीने के अंदर अपने यहां ये सभी नियम लागू कर दें। लेकिन इन दिशा-निर्देशों पर कुछ

ही राज्यों ने अमल किया। हमारे यहां तेजाब काफी समय से महिलाओं पर हमले का आसान हथियार बना हुआ है। एक अनुमान के मुताबिक देश भर में हर साल इस तरह की करीब एक हजार घटनाएं होती हैं। ज्यादातर मामलों में यह तेजाबी हमला, महिला से बदला लेने की गरज से किया जाता है। हमला छोटी-छोटी बातों की वजह से होता है। मसलन किसी का एकतरफा प्रेम ठुकरा देना या अपने पति के अत्याचार से तंग आकर अलग रहना भी युवती या महिला के लिए हमले का सबब बन जाता है। किसी युवती या औरत के चेहरे को विरूप कर देने से उसकी जिंदगी बर्बाद हो जाएगी, अक्सर इस मंशा से तेजाब फेंका जाता है। जाहिर है, इस लिहाज से किसी महिला पर तेजाब डालना बलात्कार जैसा ही संगीन अपराध है और इसे रोकने के लिए सख्त कानून जरूरी है। किसी कुंठित या मानसिक रूप से विकृत नौजवान के तेजाबी हमले की शिकार युवती के दुख-दर्द का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि वह युवती अपने बिगड़े हुए चेहरे या शरीर को ढोते हुए जिंदगी जीने को अभिशप्त होती है। दूसरी ओर, तेजाब फेंक कर भाग जाने वाले बहुत कम हमलावरों की पहचान हो पाती है। जाहिर है, जब हमलावरों की पहचान ही नहीं हो पाती, तो उन्हें सजा भी नहीं मिलती।

तेजाब की एक बूंद किसी को अपंग बनाने या जान तक लेने के लिए काफी हो सकती है, इसके बाद भी हमारे यहां इसके उत्पादन और वितरण पर निगरानी की माकूल व्यवस्था नहीं है। स्कूल-कॉलेजों की प्रयोगशालाओं से लेकर छोटी-छोटी दुकानों से कोई भी इसे आसानी से पा जाता है। जब तक इसी सुलभता में कमी नहीं आएगी, तब तक तेजाबी हमलों में कमी नहीं आएगी। इस पर तभी काबू पाया जा सकता है, जब तेजाब के उत्पादन व बिक्री संबंधी नियम-कानून कठोरतम हों। तेजाबी हमले के अपराधी को भी कड़ी से कड़ी सजा जरूरी है। यही नहीं, पीड़िताओं के प्रति सरकार व समाज दोनों को मानवीय रुख अपनाना होगा। मुफ्त इलाज और मनोवैज्ञानिक उपचार के साथ ही उन्हें नौकरियों में प्राथमिकता देनी होगी। तेजाब पीड़िताओं को उचित मुआवजा देने और पुनर्वास से उनके जख्मों पर कुछ-न-कुछ मरहम तो लगेगा।

(साभार : राष्ट्रीय संहारा)





मानवाधिकारों के लिए पर्यावरण बचाइए

• डॉ. सरोज कुमार शुक्ल

मानव अधिकार का पर्यावरण के साथ बड़ा ही गहरा रिश्ता है। मनुष्य या फिर पृथ्वी पर रहने वाले किसी भी जीव जंतु के जीवन की कल्पना स्वस्थ पर्यावरण के बिना अधूरी रहेगी। पर्यावरण अपने व्यापक अर्थ में जल, वायु, अंतरिक्ष सबको अपने में समेटे हुए है। हम सब पर्यावरण से घिरे हैं। पर्यावरण से परे हमारा अस्तित्व ही संभव नहीं है। मनुष्य और पर्यावरण दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना अधूरी ही रहेगी। हम पर्यावरण में ही नहीं जीते हैं बल्कि पर्यावरण से जीते हैं।

विकास, विशेषतः आर्थिक विकास को आधुनिक युग में जीवन का मूलमंत्र मान लिया गया है। विकास के इस मॉडल में उत्पादन और लाभ पाना सबसे महत्वपूर्ण हो चला है। अब विकास के साथ वैश्वीकरण भी जुड़ गया है। वैश्वीकरण आर्थिक गतिविधि का देश की सीमाओं को तोड़कर बहुराष्ट्रीय उद्योगों को बढ़ावा देने वाली प्रक्रिया है। आज वैश्वीकरण की धारा प्रायः पश्चिमी देशों से बहती है और सत्ता का केन्द्र भी वहीं है। इसके प्रभाव में आकर अर्थ जगत पर्यावरण और समाज सभी में बदलाव हो रहा है। पर्यावरण के प्रति हमारी दृष्टि निहायत उपभोगवादी हो गयी है, जिसका सीधा दुष्प्रभाव हमारे मानवाधिकारों पर पड़ रहा है।

मानव अधिकार का पर्यावरण के साथ बड़ा ही गहरा रिश्ता है। मनुष्य या फिर पृथ्वी पर रहने वाले किसी भी जीव जंतु के जीवन की कल्पना स्वस्थ पर्यावरण के बिना अधूरी रहेगी। पर्यावरण अपने व्यापक अर्थ में जल, वायु, अंतरिक्ष सबको अपने में समेटे हुए है। हम सब पर्यावरण से घिरे हैं। पर्यावरण से परे हमारा अस्तित्व ही संभव नहीं है। मनुष्य और पर्यावरण दोनों एक-दूसरे के

पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना अधूरी ही रहेगी। हम पर्यावरण में ही नहीं जीते हैं बल्कि पर्यावरण से जीते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि पर्यावरण ही जीवन है। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम' के मंगलाचरण में जल, वायु, अग्नि आदि पर्यावरण के तत्वों को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप कह कर अभिनंदित किया है - 'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्न स्तनुभिरवस्तुवस्ता भिरष्टाभिरिश'।

जीवन और पर्यावरण की परस्पर निर्भरता भारतीय चिंतन परंपरा की एक खास पहचान रही है। परंतु आज की कड़वी सच्चाई यह है कि हम पर्यावरण से जीवन का अमृत रस लेते हैं और बदले में उसे विष देते हैं, उसमें जहर घोल देते हैं। गंगा उद्योगों के कचरे से अत्यधिक प्रदूषित होती जा रही है। ऋषिकेश के आगे उसका जल स्वास्थ्य के मानदंडों पर पेय नहीं रह गया है। पर्यावरण को प्रदूषित करते हुए हम पर्यावरण की जीवनी शक्ति को कम करते जाते हैं। आज हम पर्यावरण का दोहन करने में बड़े माहिर हो चले हैं। वन कट रहे हैं, खनिज पदार्थों की लूट मची है, पर्वत, नदी, समुद्र कुछ भी तो मनुष्य की लोभ दृष्टि से अछूता नहीं बच पाया है। यह कैसी विसंगति है, कैसी



विडम्बना है। सोना, चांदी, हीरा, मोती, हवा, पानी, अन्न, फल, पेट्रोल सब कुछ तो पर्यावरण से ही उपजता है। यह धरा रत्नगर्भा है और इसकी ही हम सब संताने हैं - 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'। हम इस धरती की वंदना करते हैं और कहते हैं - 'वन्दे मातरम्।' बंकिम चंद्र की 'सुजलाम् सुफलां मलयज शीतलाम्' वाली धरती मता की परिकल्पना सचमुच ही बड़ी मनोहारी है। 'वह जीवनदायिनी स्रोतस्विनी है, पावन है और बिना किसी भी भेदभाव के सब पर अपना अकूत प्यार और स्नेह लुटाती है।' विडम्बना है कि इसके लिए कृतज्ञता जताने के बदले हम उसका अधिकाधिक शोषण करते हैं। यह शोषण आज धरती की क्षमता से अधिक होता जा रहा है। धरती की उर्वरा-शक्ति, जीवनी-शक्ति पर हमारी अपनी ही नजर लग रही है और हम धरती नहीं बल्कि खुद अपनी ही विनाश-लीला के साक्षी होते जा रहे हैं।

आज मनुष्य की उपस्थिति, ब्रह्मांड में हर तरफ बढ़ती जा रही है। हम दूसरे ग्रहों तक पहुंच रहे हैं। इन सबके साथ पर्यावरण की रक्षा की चिंता भी बलवती होती जा रही है। आज हम लोग एक प्रदूषित पर्यावरण में सांस लेने को मजबूर होते जा रहे हैं। धरती पर जीवन की संभावना पर प्रश्न-चिन्ह सा लगता जा रहा है। राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तरों पर पर्यावरण से जुड़े प्रश्नों को लेकर चिंता व्यक्त की जाती रही है। हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

आज उद्योग, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि जीवन के हर क्षेत्र में हम तरह-तरह की तकनीकी से लाभान्वित हो रहे हैं और उनके प्रयोग करने के फलस्वरूप हमारी सुविधाओं में अच्छी खासी वृद्धि तो हो रही है पर उसके साथ ही हमारी समस्याएं भी बढ़ रही हैं। जीवन का विस्तार और संकोच की गाथा साथ-साथ चल रही है। हमारी सोच में कहीं संतुलन-व्यवस्था और नियंत्रण की कुंजी खो सी गयी है। आधी-अधूरी, एकांगी और सतही दृष्टि के चलते अब हमें दूर का दृश्य दिखता ही नहीं है। हम आत्मलीन हो गये हैं और हमें अपने परिवेश का केवल संसाधन वाल पक्ष ही

दिखता है कि हम उसका उपयोग किस-किस तरह कर सकते हैं। उसका जीवन वाला पक्ष और यह तथ्य कि हम उससे अलग रह कर जीवित नहीं रह सकते हमारी चेतना से ओझल होता जा रहा है।

आज तकनीक से उपज रहे तरह-तरह क कूड़े-कचरे को ठिकाने लगाना एक भयंकर चुनौती बनती जा रही है, खास तौर पर नाभिकीय या न्यूक्लियन कूड़ा कचरा। शायद सभ्यता का पैमाना ही यह होता जा रहा है कि हम कितना कूड़ा पैदा कर रहे हैं। भौतिकता और उपभोक्तावाद को अपनाना आज का आदर्श बन गया है और पर्यावरण का संकट उपभोक्तावाद की अनोखी सौगात है और इसे झेलना हमारी नियती बनती जा रही है। आज वैश्वीकरण के जमाने में अंतरिक्ष में चक्कर काटते कृत्रिम उपग्रह इतनी बड़ी तादात में मौजूद हैं कि न जाने कब पूरा विनाश हो जाए।

पर्यावरण के प्रदूषण का समाज के विभिन्न वर्गों पर प्रभाव एक सा नहीं पड़ता है। एक ओर जहां धनी तबके के लोग अपने लिए अतिरिक्त संसाधन जुटा कर उससे बचने के उपाय करने में सफल हो जाते हैं वहीं गरीब मारा जाता है। साथ ही, उसके मानव अधिकारों का हनन होता है। व्यापक दृष्टि से देखें तो पर्यावरण को नष्ट कर हम खुद को भी नष्ट कर रहे हैं। पर्यावरण संतुलन आज की गंभीर आवश्यकता है जिसके बिना जीन अधूरा रहेगा। हमें यह सोचना होगा कि आगे आने वाली पीढ़ी के लिए हम क्या दे रहे हैं। संस्कृतिजीवी होने के कारण हमें वे उपक्रम सोचने होंगे ताकि आम आदमी के जीवन की गुणवत्ता की रक्षा करते हुए पर्यावरण को संतुलित रख सकें। पर्यावरण, वैश्वीकरण का एक पक्ष है और मनुष्य उसका हिस्सा भी है और उपभोक्ता भी। उसका शोषण और दोहन मानव-अधिकार को स्थापित करने में बाधक बन जाता है। इसके नकारात्मक परिणाम निम्न आर्थिक वर्ग के लिए अधिक मात्रा में होते हैं। पर्यावरण के संरक्षण द्वारा हम मनुष्य के अस्तित्व और जीवन एवं गरिमा की रक्षा कर सकते हैं।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)





दूर नहीं हैं बैकाबू होतै जल संकट सौ हम

● ज्ञानेन्द्र रावत

देश की बढ़ती आबादी और औद्योगीकरण को आधार मानें तो 2025 तक पानी की आवश्यकता लगभग 1.093 घनमीटर हो जायेगी जो 2050 में बढ़कर 1.447 घनमीटर हो जायेगी। कारण आबादी के साथ-साथ औद्योगिकी क्षेत्र में भी तेजी से वृद्धि हो रही है। तात्पर्य यह कि 2050 से पहले ही जल संकट विकराल रूप ले लेगा। कारण उस समय उपलब्धता के मुकाबले पानी की मांग बहुत ज्यादा हो जायेगी। उस समय मांग और आपूर्ति के इस भीषण अंतर को पाटना आसान नहीं होगा।

आ | ज समूचा विश्व गंभीर जल संकट से जूझ रहा है। 'जल ही जीवन है' और 'बिन पानी सब सून' वाली कहावत के अनुसार पानी के अभाव में जीवन और प्रगति की कल्पना तक असंभव है। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार जीवन की इस सबसे अपरिहार्य आवश्यकता को पूरा करने के लिए यदि शीघ्र भगीरथ प्रयास नहीं किए गए तो आने वाले समय में स्थिति और विषय हो जायेगी और हम बूंद-बूंद पानी के लिए तरस जायेंगे। इसका सबसे बड़ा कारण है दिनों-दिन बढ़ती आजादी जो जल संकट को बढ़ाने में अहम भूमिका निबाह रही है। दुनिया में पानी की स्थिति का जायजा लें तो इस बात का खुलासा होता है कि धरती की सतह पर 70 फीसदी पानी है जिसमें 97.5 फीसदी खारा जल है। ढाई फीसदी शुद्ध जल का 68.7 फीसदी बर्फ के रूप में, 30 फीसदी भूजल व 0.3 फीसदी सतह पर है। सतही जल का 87 फीसदी झीलों में व 2 फीसदी नदियों में है। दुख इस बात का है कि यह सब जानते-समझते हुए भी हम इस अमूल्य संपदा की कद्र नहीं कर पा रहे हैं। आज दुनिया में तकरीबन 20 फीसदी लोग

पीने के साफ पानी से वंचित हैं और 40 फीसदी लोगों को साफ-सफाई की बुनियादी सुविधाएं भी नहीं मिल पा रही हैं। संयुक्त राष्ट्र महासचिव बान की मून ने इस बारे में चेतावनी देते हुए कहा है कि मौजूदा समय में विश्व के अनेक हिस्सों में पानी की भारी समस्या है और यदि पानी की बर्बादी नहीं रोकी गई तो स्थिति और विकराल हो जायेगी। वर्ष 2050 तक विश्व की आबादी मौजूदा सात अरब से बढ़कर नौ अरब हो जायेगी। पानी, भोजन की मांग और जलवायु परिवर्तन की समस्या दिनों-दिन और बढ़ती चली जायेगी। मांग बढ़ने से अगले कुछ वर्षों में कई इलाकों में जल संकट और गहरायेगा और विभिन्न देश अपने आर्थिक और राजनीतिक लाभ के लिए जल का इस्तेमाल करने से नहीं हिचकेंगे। इसकी वजह से अस्थिरता और क्षेत्रीय तनाव बढ़ने जैसे खतरे पैदा होंगे। विशेषज्ञों ने चेतावनी दी है कि दक्षिण एशिया में ब्रह्मपुत्र नदी क्षेत्र संभावित जोखिम वाला इलाका होगा। आने वाले समय में अनेक चुनौतियां मुंह बाये सामने खड़ी हैं। इनमें गरीब तबके की साफ पानी, साफ-सफाई की सुविधा मुहैया कराना,



विश्व आबादी को खाद्यान्न उपलब्ध कराना और ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभावों से निपटना जरूरी होगा। यह सच है कि कृषि की बढ़ती जरूरतों, खाद्यान्न उत्पादन, ऊर्जा उपभोग, प्रदूषण और जल प्रबंधन की कमजोरियों की वजह से स्वच्छ जल की आपूर्ति पर दबाव बढ़ रहा है। यही नहीं पिछले 50 साल में धरीती के नीचे से खींचे जाने वाले पानी की मात्रा तीन गुना बढ़ चुकी है। बिना बेहतर योजना और संयोजन के लाखों लोगों को भुखमरी, बीमारियों, ऊर्जा की कमी और गरीबी से जूझना होगा।

जहां तक एशिया प्रायद्वीप का सवाल है, दुनिया की 60 फीसदी आबादी इस प्रायद्वीप में रहती है लेकिन इन इलाकों में जल संसाधनों का मात्र एक तिहाई हिस्सा ही है। भारत को लें, यह विश्व के मात्र चार फीसदी नवीनीकरणीय जल स्रोत हैं जबकि आबादी 17 फीसदी है। लेकिन उसके लिए मात्र 4 फीसदी ही पानी उपलब्ध है। फिर पानी की मांग खतरनाक दर से बढ़ रही है, उसी तरह आबादी भी बढ़ती जा रही है। विश्व का दूसरा सबसे अधिक आबादी वाला यह देश 2050 तक चीन को पछाड़ते हुए पहले पायदान पर पहुंच जायेगा। तब 1.6 अरब लोगों के लिए जल संकट विकराल रूप ले लेगा। राष्ट्रीय जल नीति प्रारूप 2012 के मुताबिक भारत में 4000 अरब घन मीटर वर्षा होती है जबकि इसमें से उपयोग में लाया जाने वाला जल संसाधन लगभग 1123 अरब घन मीटर ही है। गौरतलब है कि इसका 48 फीसदी वर्षा जल नदियों में पहुंचता है जबकि भंडारण और संसाधनों की कमी के चलते केवल 18 फीसदी जल ही उपयोग हो पाता है। हमारे यहाँ घरेलू, कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में हर साल कुल 829 अरब घन मीटर पानी का उपयोग किया जाता है। साल 2025 तक इसमें 40 फीसदी का इजाफा हो जायेगा। सच्चाई यह है कि बारिश और नदियों के ड्रेनेज सिस्टम द्वारा सालाना 432 अरब घन मीटर भूजल का

पुनर्भरण होता है जिसमें से 395 अरब घन मीटर ही उपयोग लायक होता है। इसका 82 फीसदी सिंचाई और कृषि कार्यों में उपयोग होता है जबकि 18 फीसदी ही घरेलू और औद्योगिक उपयोग के लिए बचता है। सच तो यह है कि हमारे यहां जल संग्रहण क्षमता सीमित होने के कारण अधिकांश वर्षा का पानी नदियों से होकर समुद्र में बेकार चला जाता है। इससे पार पाना सभी सरकारों के लिए गंभीर चुनौती है। पर्यावरण विशेषज्ञ वर्षा जल संचयन पर हमेशा से बल देते रहे हैं लेकिन उनकी सुनता कौन है। यदि तालाबों और झीलों जैसे पारंपरिक जल स्रोतों के संरक्षण-संवर्धन पर ध्यान दिया गया होता तो कुछ बात बन सकती थी लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ और उन पर कांक्रिट के जंगल खड़े होते गए। जबकि राज्यों में प्राकृतिक जल स्रोतों की देख-रेख के लिए अलग से विभाग हैं जो जलाशयों में गाद और प्रदूषण रोकने के लिए योजनाएं बनाते हैं लेकिन वे कागजों पर ही रह जाती हैं और जलाशय व तालाब अतिक्रमण के शिकार हो जाते हैं।

यदि देश की बढ़ती आबादी और औद्योगीकरण को आधार मानें तो 2025 तक पानी की आवश्यकता लगभग 1.093 घन किमी हो जायेगी जो 2050 में बढ़कर 1.447 घनकिमी हो जायेगी। कारण आबादी के साथ-साथ औद्योगिकी क्षेत्र में भी तेजी से वृद्धि हो रही है। तात्पर्य यह कि 2050 से पहले ही जल संकट विकराल रूप ले लेगा। कारण उस समय उपलब्धता के मुकाबले पानी की मांग बहुत ज्यादा हो जायेगी। उस समय मांग और आपूर्ति के इस भीषण अंतर को पाटना आसान नहीं होगा। यह सबसे बड़ी चुनौती है। आज देश के आवासीय, औद्योगिक और कृषि क्षेत्र में भूजल के बढ़ते दोहन से पानी का संकट और गहरा गया है।

(साभार : नव भारत)





रस्म अदायगी का एक और सम्मेलन

● शशांक द्विवेदी



जरूरत इस बात की है कि हम भविष्य के लिए ऐसा नया रास्ता चुनें जो संपन्नता के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय पहलुओं तथा मानव मात्र के कल्याण के बीच संतुलन रख सके। हमें यह हमेशा याद रखना होगा कि पृथ्वी हर आदमी की जरूरत को पूरा कर सकती है लेकिन किसी एक आदमी के लालच को नहीं।

पि | छले दिनों पोलैंड की राजधानी वारसा में वैश्विक स्तर पर ग्लोबल वार्मिंग के लिए जिम्मेदार कार्बन उत्सर्जन में कमी लाने के उद्देश्य से दुनिया के 195 देशों के प्रतिनिधियों ने जलवायु परिवर्तन पर चले अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन कॉन्फ्रेंस ऑफ पार्टिज (कोप 19) में भाग लिया। लगभग दो हफ्ते तक चले इस सम्मेलन में विकसित और विकासशील देशों के बीच मतभेद और विवाद एक आर फिर खुल कर सामने आ गए। इसकी वजह से सम्मेलन में कोई बड़ी उपलब्धि हासिल नहीं हुई, फिर भी विकसित और विकासशील देश के बीच अगली वार्ता को लेकर एक समझौता हो गया है। वारसा सम्मेलन में लंबे गतिरोध के बाद आखिरी लम्हों में पेरिस 2015 के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाली नई विश्व जलवायु संधि पर सहमति बन पाई, इसके लिए सम्मेलन को एक दिन और आगे बढ़ाना पड़ा। अंतरराष्ट्रीय वार्ता के अंतिम दिन विकसित देशों की ओर से विकासशील देशों को ग्लोबल वार्मिंग के असर से निपटने में आर्थिक मदद के मुद्दे को लेकर गतिरोध पैदा हो गया था।

बाद में विकसित और विकासशील देशों ने वैश्विक तापमान बढ़ने की रफ्तार कम करने के लिए मिलकर प्रयास करने पर एक समझौता कर लिया। जिसके तहत सभी देशों के लिए ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन की जरूरत तय होगी। वर्ष 2015 में यह समझौता होना है और वर्ष 2020 के बाद इसे लागू करना है। सारे वार्ताकार अंततः इस बात पर सहमत हुए कि सभी देशों को कार्बन उत्सर्जन

पर अंकुश लगाने के लिए काम करना चाहिए। कार्बन उत्सर्जन को ही लू, बाढ़, सूखा और समुद्र के जलस्तर में बढ़ोतरी का कारण माना जा रहा है। क्योटो प्रोटोकाल के अंतर्गत केवल सर्वाधिक विकसित देशों को ही अपना उत्सर्जन कम करना था और यह एक मुख्य कारण था कि अमेरिका ने इसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। अमेरिका कहना था कि चीन और भारत जैसे तेजी से बढ़ रही अर्थव्यवस्था वाले देश हर हाल में इसका हिस्सा बनें। विकासशील देशों का यह तर्क सही है कि जब वैश्विक भूमंडलीय तापवृद्धि (ग्लोबल वार्मिंग) में ऐतिहासिक रूप से उनका योगदान पश्चिम के औद्योगिक-विकसित देशों की तुलना में न के बराबर है, तो उन पर इसे कम करने की समान जवाबदेही कैसे डाली जा सकती है? जबकि वारसा में क्योटो प्रोटोकाल से उलट धनी देश सब-कुछ सभी पर लागू करना चाहते थे, खासकर उभरते हुए विकासशील देशों पर। मतभेद की वजह सम्मेलन दस्तावेज में इकलौते शब्द पर केंद्रित रही। पैराग्राफ 2बी में मूलरूप से सभी देशों की जब प्रतिबद्धता की बात की गई तो चीन और भारत के प्रतिनिधियों ने इसे तुरंत खारिज कर दिया। उन्होंने कहा कि वे इस भाषा को स्वीकार नहीं कर सकते। चीन के मुख्य समझौताकार सुवेई ने कहा, प्रतिबद्धता केवल विकसित देशों की होनी चाहिए। उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं से केवल कार्रवाई में तेजी की अपेक्षा की जानी चाहिए। समय बीतता जा रहा था, निराश मंत्री और उनके सलाहकार किसी समझौते पर पहुंचने के लिए हॉल



के कोने में इकट्ठा हो गए। कुछ समय बाद वो लोग प्रतिबद्धता शब्द को बदलकर इसे सहयोग करने पर राजी हो गए। इससे कहीं ज्यादा लचीले शब्द पर सभी सहमत दिखे। असल में इस सहमति में विवादास्पद मसलों को सुलझाने की जगह, उनकी जगह स्वीकार्य शब्दों के इस्तेमाल या उन मसलों को छोड़ने का रास्ता अपनाया गया है। 2013 से 2019 तक जलवायु परिवर्तन से लड़ने के लिए विकसित देशों द्वारा दी जाने वाली वित्तीय मदद का कोई लक्ष्य न निर्धारित करना, इसका एक उदाहरण है। शब्दों की इस बाजीगरी ने फौरी तौर पर थोड़ी राहत जरूर दी हो, लेकिन किसी अर्थवान समझौते तक पहुंचने में यह शायद ही मददगार हो। पिछले दो दशक में पर्यावरण संरक्षण को लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 19 जलवायु सम्मेलन हो चुके हैं, लेकिन अब तक कोई ठोस नतीजा नहीं निकला।

पिछले दिनों जलवायु परिवर्तन पर गठित अंतर-सरकारी पैनल (आईपीसीसी) ने एक रिपोर्ट में कहा था कि अगर वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन वर्तमान दर से जारी रहा तो अगले दो-तीन दशकों में दुनिया का तापमान दो डिग्री सेल्सियस से ज्यादा तक बढ़ जाएगा। यह स्थिति प्रलय से कम खतरनाक नहीं होगी। ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभावों को नियंत्रित करने के लिए जरूरी है कार्बन उत्सर्जन में आशातीत कमी। वैज्ञानिकों ने दुनियाभर के नेताओं को चेतावनी दी है कि वायुमंडल में बढ़ते कार्बन डाईऑक्साइड के स्तर को देखते हुए इस पर नियंत्रण करने के लिए तुरंत कदम उठाएं। हवाई में मौजूद अमेरिकी प्रयोगशाला में रोजाना होने वाले कार्बन डाईऑक्साइड के उत्सर्जन की माप से अंदाजा मिला है कि पहली बार इस गैस का उत्सर्जन 400 पार्ट्स प्रति 10 लाख के स्तर पर पहुंच गया है।

वास्तव में पर्यावरण संरक्षण के नाम पर अब तक हम कुछ सकारात्मक नहीं कर पाए हैं। पिछले दो दशकों से वैश्विक स्तर पर कई महत्वपूर्ण सम्मेलन हुए, कई ड्राफ्ट बने, घोषणाएं हुईं लेकिन वास्तविक धरातल पर कुछ खास नहीं हुआ। पर्यावरण और कार्बन उत्सर्जन में कटौती के मुद्दे पर विकसित और विकासशील देशों के बीच आज तक

कोई आम सहमति नहीं बन पाई। असली बात यह है कि अमेरिका सहित कई विकसित देश चाहते हैं कि विकासशील देश अपने उद्योग-धंधों की रफ्तार कम करें और कार्बन उत्सर्जन कटौती के मामले में अपनी जिम्मेदारी नहीं निभा रहे हैं। वर्तमान आर्थिक नीतियों ने विश्व की जनसंख्या के साथ मिलकर पृथ्वी की नाजुक परिस्थिति पर अभूतपूर्व दबाव डाला है। इसकी वजह से अब हमें यह मानना ही होगा कि सब कुछ जलाकर और खपाकर हम संपन्नता के रास्ते पर नहीं बढ़ते रह सकते। इसके बावजूद हमने उस सहज समाधान को अपनाया नहीं है। आज विश्व की जनसंख्या सात अरब से अधिक हो गई है। ग्लोबल वार्मिंग और तापमान में वृद्धि लगातार जारी है। जनसंख्या बढ़ने से प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बढ़ता जा रहा है और प्राकृतिक संसाधनों के स्रोत सीमित होने के कारण भविष्य को लेकर चिंताएं बढ़ रही हैं।

1992 में रियो डि जेनेरियो में अर्थ समिट यानी पृथ्वी सम्मेलन से लेकर वारसा तक के शिखर सम्मेलनों के लक्ष्य अभी भी अधूरे हैं। आज आपसी विवादों के समाधान की जरूरत है। कट्टे सच्चाई यह है कि जब तक विश्व अपने गहरे मतभेदों को नहीं सुलझा लेता, तब तक कोई भी वैश्विक कार्रवाई कमजोर और बेमानी सिद्ध होगी। आज जरूरत है ठोस समाधान की, इसके लिए एक निश्चित समय सीमा में लक्ष्य तय होने चाहिए।

जरूरत इस बात की है कि हम भविष्य के लिए ऐसा नया रास्ता चुनें जो संपन्नता के आर्थिक, सामाजिक और पर्यावरणीय पहलुओं तथा मानव मात्र के कल्याण के बीच संतुलन रख सके। हमें यह हमेशा याद रखना होगा कि पृथ्वी हर आदमी की जरूरत को पूरा कर सकती है लेकिन किसी एक आदमी के लालच को नहीं। वारसा सम्मेलन ने काफी हद तक निराश किया है और ये एक रस्म अदायगी बन कर रह गया है लेकिन फिर भी वारसा ने पेरिस में 2015 को होने वाले जलवायु सम्मेलन के लिए बातचीत के एजेंडे को तय करके इस सम्मेलन को पूरी तरह से विफल होने से बचा लिया है।

(साभार : दबंग दुनिया)





महिलाओं के मानव अधिकारों के संरक्षण के लिये अंतर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास

• सरिता मालवीय



महिलाओं के मानव अधिकारों को समझने पूर्व यह समझना आवश्यक है कि मनुष्य के अधिकारों का तात्पर्य क्या है? अधिकार का विधिक अर्थ है 'अधिकार किसी भी मनुष्य को कुछ शक्ति या स्वतंत्रता निहित होने का द्योतक है जिसकी शक्ति के कारण वह मनुष्य समाज में कुछ निश्चय एवं कार्य कर सकता है- अथवा कोई वस्तु साधिकार प्राप्त कर सकता है तथा जिससे अन्य व्यक्ति उस मनुष्य के हितों के विपरीत कार्य करने से निषिद्ध किये जाते हैं।' इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अधिकार दूसरे मनुष्यों पर सम्मान का दायित्व आरोपित करता है।



महिलाओं को सदैव ही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा गया है फिर समाज उसे पुरुष के समान स्वीकार नहीं कर पाता है। समाज में सदैव ही महिलाओं के साथ भेदभाव होता ही आ रहा है, जबकि शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप की परिकल्पना सदैव इस सत्य की ओर ध्यान आकृष्ट करती है कि समाज में महिलाओं के महत्व को समान धरातल पर स्वीकार करना ही सही सोच है। परंतु महिलाओं के साथ प्राचीन काल से वर्तमान काल तक भेदभावपूर्ण व्यवहार किया जाता है। वर्तमान समय समय में महिलाओं की स्थिति को देखते हुये समपूर्ण विश्व में इस लिंग भेद के विरुद्ध आवाज़ उठाई जा रही है। महिलाओं के लिये अनेकों अंतर्राष्ट्रीय अभिसमयों, दस्तावेजों व सम्मेलनों में अखिल राष्ट्र स्तर पर इस कुरीति के समापन हेतु प्रतिबद्धता प्रकट की गई है। स्थानीय स्तर पर राष्ट्रीय विधियां भी लिंग भेद के निराकरण का प्रयास कर रही हैं।

महिलाओं के मानव अधिकारों को समझने पूर्व यह

समझना आवश्यक है कि मनुष्य के अधिकारों का तात्पर्य क्या है? अधिकार का विधिक अर्थ है 'अधिकार किसी भी मनुष्य को कुछ शक्ति या स्वतंत्रता निहित होने का द्योतक है जिसकी शक्ति के कारण वह मनुष्य समाज में कुछ निश्चय एवं कार्य कर सकता है- अथवा कोई वस्तु साधिकार प्राप्त कर सकता है तथा जिससे अन्य व्यक्ति उस मनुष्य के हितों के विपरीत कार्य करने से निषिद्ध किये जाते हैं।' इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि अधिकार दूसरे मनुष्यों पर सम्मान का दायित्व आरोपित करता है।

अधिकार को सामाजिक संदर्भ में जानने के पश्चात् मानव अधिकारों को भी जानना आवश्यक है। मानव अधिकार वे अधिकार वे अधिकार हैं जो मानव को उसकी प्रजाति के सदस्य द्वारा उनकी जाति, मूल, वंश, राष्ट्रीयता, लिंग, भाषा आदि से निरपेक्ष रहते हुये सभी को इसलिये प्राप्त है क्योंकि वह मानव है ये ऐसे अधिकार हैं जिनके बिना मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इन्हें कभी-कभी आधारभूत



या मूलभूत अधिकार भी कहते हैं।

मानव अधिकारों के घोषणा पत्र, 1789 द्वारा फ्रांसवासियों के मूल अधिकारों की घोषणा की गई। इस घोषणा में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य का जन्म स्वतंत्रता सहित होता है तथा वह स्वतंत्र एवं समान अधिकारों सहित रहता है।

अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका (1914-18) में राष्ट्रसंघ की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकार को महत्व प्रदान किया जाने लगा परन्तु सामान्य सर्वमान्य मानक स्तर पर असहमति फिर भी बनी रही। मात्र अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षा की असंतुलित पहल की गई। 1992 का 'एन्टी स्लेवरी कन्वेंशन' सही अर्थों में मानव अधिकार के संरक्षण की दिशा में राष्ट्रसंघ का सराहनीय प्रयास था। सदस्य राष्ट्रों द्वारा गुलामी प्रथा की समाप्ति की प्रतिबद्धता इसकी विशेषता थी, इसके अतिरिक्त स्त्रियों और बच्चों के दुर्व्यापार संबंधी एक सलाहकार समिति का गठन इस उद्देश्य से किया गया कि स्त्रियों का वैश्यावृत्ति में दुरुपयोग रोका जा सके तथा विवाह हेतु सहमति प्रदान करने की न्यूनतम आयु में वृद्धि की जा सके। राष्ट्र के 50 सदस्य राष्ट्रों द्वारा इसे स्वीकार किया गया।

10 दिसम्बर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को अंगीकार कर लिया गया। यह एक ऐसा दस्तावेज है जिसके द्वारा मानव अधिकारों को परिभाषित एवं सूचीबद्ध किया गया है। इस दस्तावेज में 30 अनुच्छेद हैं जिनमें 1 से 28 तक विभिन्न तक विभिन्न अधिकारों का वर्णन है। इस घोषणा पत्र की विशेषता यह हठ कि इसमें मनुष्य के गरिमामय जीवनयापन के सभी आयामों का समावेश किया गया है।

मानव अधिकार समान रूप से सभी व्यक्तियों को प्राप्त हैं तथा ये प्रत्येक मनुष्य को जन्म लेते ही प्राप्त हो जाते हैं। इन सभी मनुष्यों में महिलायें भी समान रूप से शामिल हैं। अतः ये सारे अधिकार महिलाओं को भी समान रूप से प्राप्त होना

चाहिये। सम्पूर्ण विश्व की आबादी का आंकलन किया जाये तो इस आबादी में 50 प्रतिशत महिलायें भी शामिल है। परन्तु विश्व के अधिकतर राष्ट्रों के पुरुष प्रधान में महिलाओं की शक्ति, सामर्थ्य एवं महत्व को कम करके आंका गया है।

अल्पविकसित एवं विकासशील समाज में महिलाओं के हितों की अनदेखी किया जाना सामाजिक जीवन शैली का अभिन्न हिस्सा बन गया है। अशिक्षा, अभाव एवं अधिकारों के प्रति जागरूकता की कमी महिलाओं को शोषण का शिकार बनाती है तथा जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं एवं अधिकारों से वंचित रखती है। महिलाओं को नैसर्गिक, सहनशीलता एवं सामंजस्य परक प्रवृत्ति ही उन्हें शोषण का आसान शिकार बना देती है। निर्बल वर्ग के रूप में चिन्हित होने के कारण ही महिलाओं के हितों व अधिकारों की रक्षा की चिंता की व्यापकता ने मानव अधिकारों एवं मूलभूत अधिकारों की उपलब्धता महिला वर्ग के लिये सुनिश्चित करने का प्रयास किया। इसके परिणाम स्वरूप जहाँ मानव अधिकारों की घोषणा, 1948 के रूप में एक सार्वभौम दस्तावेज उपलब्ध हुआ, वहीं महिलाओं के राजनैतिक अधिकारों पर अभिसमय, 1952; विवाहित महिलाओं की राष्ट्रीयता पर अभिसमय, 1975; विवाह हेतु सम्मति व विवाह न्यूनतम आयु तथा विवाहों का पंजीकरण कर अभिसमय, 1962; महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभाव की समाप्ति पर अभिसमय, 1979; द्वारा महिलाओं के मानव अधिकारों की रक्षा का प्रयास अंतरराष्ट्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर किया गया।

इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुये संयुक्त राष्ट्र संघ ने महिलाओं एवं बालिकाओं की स्थिति को बेहतर बनाने के लिये संयुक्त राष्ट्र लिंग समानता एवं महिला सशक्तिकरण (यू एन वूमन वाच) नामक संस्था का गठन किया। यह संस्था 1 जनवरी, 2011 से विधिवत अपना कार्य करना प्रारम्भ कर चुकी है। इन दस्तावेजों की विषय वस्तु से अधिकतर राष्ट्रों की सहमति का परिणाम है कि भारत भी इन दस्तावेजों में वर्णित प्रावधानों का सम्मान करता है। संविधान के अनुच्छेद 51(स) में स्थानीय विधियों महिलाओं के मानव अधिकारों



एवं मूलभूत अधिकारों के संरक्षण हेतु समुचित प्रयास किया गया है।

महिलाओं के निम्नलिखित अधिकारों को मानव अधिकारों पर आधारित माना जाता है तथा विधि का संरक्षण प्राप्त है-

लिंग के आधार पर भेदभाव न किये जाने का अधिकार- भारतीय संविधान में लिंग के आधार पर भेदभाव को वर्जित माना है। भारतीय संविधान में समानता शब्द को मनमानेपन का विरुद्धार्थी माना है, इसलिये न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि वे सभी कार्य जो मनमानेपन को दर्शाते हैं, अमान्य हैं। अतः विधि के समक्ष महिलायें एवं पुरुष एक समान हैं एवं उन्हें समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिये। किसी भी प्रकार के नियोजन में महिलाओं एवं पुरुष के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिये। यह प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार भी माना जाता है।

महिलाओं को पुरुषों के समान कार्य के लिये समान वेतन पाने का अधिकार- भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 के खण्ड (1) के माध्यम से नागरिकों को समान व्यवहार करने का निर्देश देता है। यह लिंग या अन्य आधार पर विभेद का निषेध करता है। वहीं अनुच्छेद 16 में सार्वजनिक नियुक्तियों के संबंध में समानता के व्यवहार की बाध्यता दर्शायी गई है। इस प्रकार के व्यवहार से किसी भी नागरिक को लिंग मात्र या अन्य आधारों पर सार्वजनिक नियुक्ति के मामलों में भेदभाव का दुष्परिणाम नहीं देखना पड़ेगा। इसी प्रकार महिलाओं को भी पुरुष के समान कार्य करने के लिये समान वेतन मिलेगा। यह उसका अधिकार है।

महिलायें निर्बल वर्ग के होने के कारण विशेष व्यवहार या वरीयता पाने का अधिकार- महिलायें की शारीरिक संरचना पुरुषों से अलग एवं अपेक्षाकृत कमजोर भी होती है। इसके साथ सामाजिक परिस्थितियाँ एवं परिवेश भी महिलाओं के नैसर्गिक विकास में बाधक होते हैं। महिलाओं के इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर महिलाओं को बच्चों के समान निर्बल वर्ग का मानकर उनके पक्ष में चयनित पक्षपात

के माध्यम से उन्हें विशेष संरक्षण या वरीयता प्रदान करना विकसित एवं सभ्य राजनीतिक व्यवस्था का दायित्व हो जाता है। बलात्कार जैसे मामले में सुनवाई यथासंभव महिला न्यायाधीश द्वारा बंद कमरे में किया जाने की उच्चतम न्यायालय की अनुशंसा भी महिलाओं के प्रति मानवीय व्यवहार का अच्छा उदाहरण है।

समाज में महिला को गरिमायुक्त एवं सम्मान पूर्वक जीने का अधिकार - भारतीय संविधान के अनुच्छेद 51(इ) के अनुसार जो भी प्रथायें नारी के सम्मान के विरुद्ध हैं उन प्रथाओं का परित्याग के लिये सभी प्रतिबद्ध हैं। यह अधिकार महिलाओं को समाज में व्याप्त उपेक्षापूर्ण व्यवहार तथा अनेक कुरीतियों से बचाव हेतु विधि निर्माण की दिशा में निर्देश आधार प्रदान करता है। इस अधिकार के अंतर्गत महिलाओं को लिंग के आधार पर न्यूनतम मजदूरी में भेदभाव को वर्जित, विधवा पुनर्विवाह का मान्यता, दहेज मांग व दहेज हत्या को दंडनीय घोषित किया इसके अतिरिक्त विधवा पेंशन, निःशुल्क महिला/कन्या शिक्षा व्यवस्था, विवाह विच्छेद के उपरांत भरण-पोषण, घरेलू हिंसा पर रोक, पंचायत आदि में संरक्षण, अनैतिक व्यापार तथा सती प्रथा आदि के लिये विभिन्न अधिनियमों में प्रावधान किये गये हैं।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं एकांतता का अधिकार- यह अधिकार महिलाओं के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो जाता है और उन्हें अधिकृत करता है कि स्वेच्छा से यह वरण कर सके कि किस व्यक्ति या समूह से वे मेल मिलाप रखना चाहती हैं। यही कारण है कि किसी भी व्यक्ति को महिला उसकी निजता या व्यक्तिगत या एकान्तता को सामान्यतः भंग करने का कोई अधिकार नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने भी इस संबंध में कहा है कि महिला चाहे किसी भी चरित्र की हो, चाहे वह चरित्रहीन या वैश्यावृत्ति में लिप्त हो उस महिला की भी निजता या एकांतता में उसकी अनुमति के विरुद्ध हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता है।

कार्यस्थल पर महिलाओं के यौनशोषण पर प्रतिबंध- संविधान का अनुच्छेद 51 के अनुसार अन सभी



प्रथाओं का त्याग करना होगा जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हैं तथा अनुच्छेद 21 के अनुसार प्रत्येक नागरिक को प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार है इन अधिकारों के प्रभाव स्वरूप उच्चतम न्यायालय ने कार्यस्थल पर कामकाजी महिलाओं के साथ बढ़ते हुये यौन उत्पीड़न के कार्य को अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार विपरीत माना है। इस सन्दर्भ में नवम्बर 2010 में एक विधेयक प्रस्तुत किया जा चुका है, जिसकी विषय-वस्तु उच्चतम न्यायालय द्वारा सुझाये गये उपायों का समावेश करती है।

शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रस्ताव रखना; यौन संबंध की स्थापना हेतु विनय करना; यौन क्रिया संबंधी छेड़छाड़ करना या क्रियाकलाप करना; अश्लील चित्र या साहित्य दिखाना; आदि कार्यों या व्यवहारों को कामकाजी महिलाओं के यौन उत्पीड़न की श्रेणी में रखा गया है, यदि वह कामकाजी महिला को सम्बोधित है।

महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने के लिये अर्थात् महिला सशक्तिकरण के लिये राष्ट्रीय स्तर पर कई कार्यक्रम चलाये गये। जैसा हम जानते हैं कि विश्व की लगभग आधी आबादी महिलाओं की है। भारत में महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिये प्रयास किये जा रहे हैं। भारत में प्राचीन काल में महिलाओं एवं पुरुषों में लिंग के आधार पर भेदभाव नहीं था। मध्यकालीन समय में भारत में महिलाओं की स्थिति में पतन देखा गया और अंततः पुरुषों ने महिलाओं पर वर्चस्व स्थापित कर महिलाओं को हाशिये पर धकेल दिया तथा समाज में महिलाओं के महत्व को नकारा जाने लगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान निर्माताओं ने महिलाओं के समान को पुनर्जीवित करने के लिये भारतीय संविधान की प्रस्तावना में मूलभूत अधिकारों, मूलभूत दायित्वों तथा राज्य के नीति निदेशक तत्वों में लैंगिक समानता एवं महिलाओं को सम्मान प्राप्त करने अवधारणा को अंगीकार किया।

महिलाओं की स्थिति को सशक्त करने के लिये महिलाओं पक्ष में सकारात्मक कदम उठाये हैं। पांचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-1978) में महिलाओं की हितरक्षा की अवधारणा को

महिला विकास की अवधारणा ने प्रतिस्थापित कर दिया। 1990 में संसद के अधिनियम के माध्यम से एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई, जो महिलाओं के अधिकार एवं विधिक अधिकारी को निश्चित करने का प्रयास करते हैं। संविधान में 73वें व 74वें संशोधन के द्वारा महिलाओं हेतु स्थानीय निकायों, पंचायतों एवं म्युनिसिपैलिटी में स्थानों का आरक्षण सुनिश्चित किया गया।

भारत सरकार द्वारा अपनी संवैधानिक प्रतिबद्धता के अनुरूप महिलाओं को पुरुषों के समकक्ष अधिकार प्रदान करने एवं महिलाओं सशक्तिकरण करने के उद्देश्य से निम्न अंतर्राष्ट्रीय अभिसमयों तथा मानव अधिकार दस्तावेजों का अनुसमर्थन किया-

- महिलाओं के प्रति सभी प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने का अभिसमय, 1993 (Convention on Elimination of All Forms of Discrimination Against Women-CEDAW)
- मक्सिको कार्य योजना, 1975 (Mexico Plan of Action, 1975)
- नैरोबी दूरगामी योजना, 1985 (Nairobi Forward Looking strategies, 1985)
- बीजिंग घोषणा एवं कार्य हेतु आधार, 1995 (Beijing Declaration as well platform for Action, 1995)
- संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा द्वारा लिंग समानता तथा विकास एवं इक्वीसर्वी शताब्दी में शांति विषय पर आयोजित विशेष सत्र से अंगीकार किया गया दस्तावेज शर्तविहीन रीति से भारतवर्ष द्वारा प्रतिहस्ताक्षरित किया गया।

महिलाओं के सशक्तिकरण के लिये नौवीं पंचवर्षीय योजना में विशिष्ट प्रावधान किये गये हैं। महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य एवं स्वरोजगार के माध्यम से आर्थिक सम्पन्नता के सन्दर्भ में गैर सरकारी संगठनों के कार्य की सराहना की गई



क्योंकि स्थानीय व आधारभूत स्तर पर ऐसे संगठन महिला शक्ति सम्पन्नता में प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

पिछले कुछ दशकों में महिला एवं पुरुष जनसंख्या अनुपात में कमी, महिलाओं के साथ घरेलू हिंसा, सामाजिक हिंसा व उपेक्षा, बालिका, किशोरी तथा महिलाओं के प्रति भेदभाव, सामाजिक एवं आर्थिक संरचना समाज में व्याप्त कुरीतियां व प्रथायें, आदि जिसके द्वारा महिलाओं तथा बालिकाओं व किशोरियों के साथ विभेदकारी व्यवहार किया जाता है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा महिला सशक्तिकरण के लिये डुबाकरा योजना, 1982; न्यूमॉडल चर्खा योजना, 1987; नौराड प्रशिक्षण योजना, 1989; महिला समाख्या योजना, 1989; मातृ एवं शिशु स्वास्थ्य कार्यक्रम, 1992; किशोरी बालिका योजना, 1992; महिला समृद्धि योजना, 1993; राष्ट्रीय महिला कोष योजनायें, 1993; राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना, 1994; इन्दिरा महिला योजना, 1995; ग्रामीण महिला विकास परियोजना, 1996; राजराजेश्वरी बीमा योजना, 1997; स्वास्थ्य सखी योजना, 1997; बालिका समृद्धि योजना, 1997; डंबाकुआ योजना, 1997; महिला स्वशक्ति योजना, 1998; किशोरी शक्ति योजना, 2000; स्त्रीशक्ति पुरस्कार योजना, 2000; स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना, 2000; राष्ट्रीय महिला कोष आदि विभिन्न कार्यक्रम का संचालन किया जा रहा है।

महिला सशक्तिकरण का उद्देश्य महिलाओं को राजनैतिक, योजना एवं धार्मिक मामलों में निर्णय लेने के स्तर पर प्रक्रियात्मक रूप प्रतिभागी बनाना, योजना स्तर पर महिलाओं को विकास की मुख्य धारा से जोड़ने हेतु बनाई गई योजनाओं एवं नीतियों की केन्द्र तथा राज्य स्तर पर सतत समीक्षा करना, प्रत्येक महिला को उनकी आर्थिक शक्ति सम्पन्नता की वृद्धि हेतु कार्यक्रम एवं योजनायें बनाई जायें।

राष्ट्रीय महिला सशक्तिकरण (शक्ति सम्पन्नता) नीति, 2001 का मुख्य उद्देश्य है-

सकारात्मक आर्थिक व सामाजिक नीतियों के

माध्यम से ऐसे वातावरण का निर्माण जिसमें महिलाओं को अपनी पूर्ण क्षमता का ज्ञान हो व वह उसका उपयोग करे, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं सिविल क्षेत्रों में महिलाओं द्वारा पुरुषों के समान समस्त मानव अधिकारों तथा मौलिक स्तंत्रताओं का सैद्धान्तिक एवं वास्तविक उपभोग, महिलाओं को सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन में सक्रिय व प्रभावी भागीदारी एवं पुरुषों समाननिर्णय लेने में समान अवसर कर प्राप्ति, महिलाओं को जीवन के प्रत्येक स्तर पर स्वास्थ्य रक्षा, स्तरीय शिक्षा आजीविका, व्यवसाय संबंधी मार्गदर्शन, नियोजन के समान अवसर, समान कार्य हेतु समान वेतन, सामाजिक सुरक्षा व सार्वजनिक पदों पर नियोजन के समान अवसर आदि।

इसके अतिरिक्त महिलाओं के साथ हो रहे भेदभावपूर्ण व्यवहार के उन्मूलन हेतु कानूनी व्यवस्था का सद्दृढीकरण, महिलाओं के परिपेक्ष्य में विकास प्रक्रिया गतिशील करना, महिलाओं, बालिकाओं व किशोरियों के विरुद्ध विभिन्न रूपों हो रहे भेदभाव एवं हिंसाओं का उन्मूलन करना, सभ्य समाज- विशेषकर महिला संगठनों के साथ सहभागिता करना तथा उन्हें सद्दृढ करने के लिये प्रयास करना ही इसके उद्देश्य हैं।

महिला सशक्तिकरण हेतु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास- विश्व स्तर पर पुरुष प्रधान समाज का बाहुल्य हैफ महिलाओं के लिंग संबंधी भेदभाव शताब्दियों से चला आ रहा है, महिलायें सामाजिक उपेक्षा का शिकार होती आ रही हैं। इसका कारण सामाजिक, शासकीय एवं व्यक्तिगत तथा विधि-क संस्थाओं की कार्यप्रणाली है। बीजिंग (चीन) में आयोजित चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन के दुनिया के गरीबों में सत्तर प्रतिशत संख्या महिलाओं की है। महिलाओं से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय स्तर हुये विभिन्न प्रयासों का निष्कर्ष है कि महिलाओं की विश्व स्तर पर समस्यायें लगभग एकसमान तथा सार्वभौमिक ही हैं। यदि हमें समता, विकास एवं शांति मूलक समाज की स्थापना को मूर्त रूप देना है तो महिलाओं का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित करना होगा। इसके लिये



अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हेग अभिसमय, 1902; श्वेत दासों के अवैध कारोबार को रोकने हेतु अंतर्राष्ट्रीय करार, पेरिस 18 जुलाई, 1904; श्वेत दासों के अवैध कारोबार को रोकने हेतु अंतर्राष्ट्रीय करार, पेरिस 4 मई, 1910; पूर्णवय महिलाओं के अवैध दुर्व्यवहार को रोकने हेतु अंतर्राष्ट्रीय अभिसमय, जेनेवा, 11 अक्टूबर 1933 अभिसमय बनाये गये।

महिलाओं के अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों के अतिरिक्त निम्न क्षेत्रीय प्रयास भी किये गये हैं-

- 1928 में अमेरिकी राज्यों में छठां सम्मेलन हवाना में सम्पन्न हुआ इसमें महिलाओं के लिये अंतर अमेरिकी अयोग की स्थापना की गई थी।
 - अमेरिकी राज्यों में आठवां सम्मेलन 1938 में अमेरिका के लीमा शहर में आयोजित किया गया था इसमें महिलाओं को पुरुषों के समान कार्य करने के अवसर में समानता एवं माता के रूप में उन्हें पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की जायेगी।
 - अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सामान्य सम्मेलन के 26वें अधिवेशन में फिलाडेल्फिया घोषणा पारित की गई, इस घोषणा के भाग-3 के अनुसार सभी मनुष्य मूलवंश, लिंग आदि पर आधारित भेदभाव विहीन रीति से स्वयं के भौतिक कल्याण तथा अध्यात्मिक विकास, सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा, अवसर की समानता प्राप्त करने का प्रयास कर सकेंगे।
 - अमेरिकी राज्यों में आयोजित नार्वे सम्मेलन में छठवें सम्मेलन द्वारा स्थापित उत्तर अमेरिकी अयोग के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप दो अन्तर अमेरिकी अभिसमय महिलाओं को राजनैतिक अधिकार प्रदान करने हेतु अन्तर अमेरिकी अभिसमय एवं महिलाओं के नागरिक अधिकार प्रदान करे हेतु अंतर अमेरिकी अभिसमय, ये अभिसमय महिलाओं के अधिकारों की स्थापना हेतु पारित किये।
- महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा भी कई प्रयत्न किये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने सदस्य राष्ट्रों के द्वारा

महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्रदान करने के लिये अनेक आयोगों एवं अभिसमयों की सहायता ली है। ये प्रयास निम्नलिखित हैं-

- महिलाओं की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक अधिकारों की प्रोन्नति के लिये महिलाओं की प्रास्थिति पर आयोग 1946 में बनाये गये।
- वर्ष 1948 में मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को कुछ मूल अधिकार व स्वतंत्रताये दी गई है और ये अधिकार सभी व्यक्ति को मूल, लिंग, भाषा, धर्म आदि के आधार भेदभाव रहित प्राप्त होंगे।
- वर्ष 1949 में महिलाओं के अवैध व्यापार पर निषेध व उनका वैश्यवृत्ति द्वारा शोषण पर महासभा द्वारा अभिसमय पारित किया गया।
- महिलाओं को पुरुषों के समान कार्य के लिये समान वेतन के लिये अभिसमय 29 जून, 1951 को अंगीकार किया गया जो 23 मई, 1953 से प्राप्त हुआ था।
- नागरिक और राजनैतिक अधिकारों की प्रसंविदा महासभा के द्वारा 1952 में अंगीकार किया गया जिसमें महिलाओं को महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये।
- विवाहित महिलाओं की विवाह के बाद धारित करने या परिवर्तन करने संबंधी अधिकार का अभिसमय, 1957
- नियोजन व व्यवसाय में भेदभाव निषेध पर भेदभाव के समापन हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ का अभिसमय, 1960
- शिक्षा में भेदभाव के विरुद्ध महासभा का अभिसमय, 1960 एवं संसतुति 22 मई, 1962 से प्रभावी
- महिलाओं की विवाह के लिये न्यूनतम आयु, सम्पत्ति एवं विवाह का पंजीकरण पर संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा का अभिसमय, 1962
- महिलाओं के भेदभाव समापन हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा के संकल्प संख्या 2263 (XVII) द्वारा 7 नवम्बर 1967 को घोषणा।



- 22 अप्रैल - 13 मई, 1968 में तेहरान सम्मेलन में के पन्द्रहवें बिंदु में महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव समाप्त करने एवं अनिवार्यता को देखते हुये कहा कि महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव को समाप्त करने की घोषणा का पूर्णतः क्रियान्वयन सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के लिये अपरिहार्य है।
- सामाजिक प्रगति एवं घोषणा, 1969
- महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव के समापन की घोषणा, 7 नवम्बर, 1975
- महिलाओं पर प्रथम विश्व सम्मेलन द्वारा प्रथम विश्व दशक, (1976-85) की घोषणा तथा समानता, विकास तथा शांति विषयों पर प्रथम विश्व कार्यवाही योजना, 1975 मैक्सिको।
- 1976 में महासभा ने महिलाओं की उन्नति के लिये संयुक्त राष्ट्र महिलाओं की उन्नति के लिये संयुक्त राष्ट्र शोध संस्था का गठन किया।
- संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 18 दिसम्बर, 1979 में महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव समापन हेतु अभिसमय संकल्प संख्या 34/180 के माध्यम से अंगीकार किया तथा इसे 3 सितम्बर, 1981 से प्रभाव में लाया गया।
- महिलाओं पर द्वितीय सम्मेलन, 1980, कोपेनहेगेन में प्रथम सम्मेलन में महिलाओं पर चयनित विषयों में शिक्षा, नियोजन व स्वास्थ्य का समावेश किया गया।
- महिलाओं के तृतीय विश्व सम्मेलन, नैरोबी, 1985 में महिलाओं की उन्नति हेतु 2000 तक के लिये भविष्य की रणनीति का निर्माण किया।
- महिलाओं की विकास में भूमिका पर 1986 में प्रथम सर्वेक्षण।
- विश्व की महिलायें: प्रवृत्तियां एवं सांख्यिकी- का 1991 में प्रकाशन महिलाओं की विश्व स्थिति से संबंधित था।
- संयुक्त राष्ट्र महासभा ने 1993 में महिलाओं के विरुद्ध

सभी प्रकार की हिंसा की समाप्ति की घोषणा की।

- अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन कैरो में 1994 में सर्वप्रथम महिलाओं के अधिकार प्रदान करने को विकास का अभिन्न अंग माना।
- महिलाओं पर चतुर्थ विश्व सम्मेलन, 4-5 सितम्बर, 1995, बीजिंग में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में महिलाओं के लिये समानता, विकास, शांति, शिक्षा, नियोजन एवं स्वास्थ्य के क्षेत्र में हुई उपलब्धि तथा चिंता के क्षेत्रों की पहचान के कार्यवाही हेतु समिति का गठन का प्रस्ताव रखा गया।

इक्कसवीं सदी में महिलाओं के इस प्रकार के भेद को समाप्त करने के लिये शांति एवं निष्कर्ष के लिये सामान्य सभा के द्वारा बीजिंग सम्मेलन की घोषणाओं को कार्यान्वयन हेतु था अंगीकार किया गया।

महिलाओं की स्थिति को समाज में देखते हुये विश्व स्तर पर महिलाओं की स्थिति को सुधारने के लिये कई कार्य किये गये हैं महिला सशक्तिकरण संस्था ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महिला सशक्तिकरण का उद्देश्य ही महिलाओं के अधिकारों का संरक्षण एवं महिलाओं की विश्व स्तर पर स्थिति को सुधारने। इसके लिये इनके द्वारा कई प्रयास किये जा चुके हैं तथा और भी किये जा रहे हैं। महिलायें विश्व की आधी जनसंख्या है तथा उसे इन अधिकारों से वंचित रखना उचित नहीं है। अतः महिलाओं के साथ हो रहे भेदभाव को समाप्त करना एवं उनके अधिकारों को पूर्णतः सुरक्षित करने के लिये अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर कई प्रयास किये गये तथा किये जा रहे हैं, कुछ समय से महिलाओं की स्थिति में सुधार तो आया है फिर भी कुछ सुधार की और भी आवश्यकता है।

□ □ □


लेखिका बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय,
भोपाल में शोधार्थी हैं।




HUMAN RIGHTS WATCH

REPORT (INDIA), 2014

● Kenneth Roth



National Human Rights Commission told the Supreme Court it had received 1,671 complaints of extrajudicial killings in the last five years. Following his 2012 visit to India, the UN special rapporteur on extrajudicial, summary or arbitrary executions, Christof Heyns, stressed the need to end impunity and bring perpetrators promptly to justice.



India took positive steps in 2013 by strengthening laws protecting women and children, and, in several important cases, prosecuting state security force personnel for extrajudicial killings. The impact of these developments will depend in large part on effective follow-up by central government authorities. The year also saw increased restrictions on Internet freedom; continued marginalization of Dalits, tribal groups, religious minorities, sexual and gender minorities, and people with disabilities; instances of remained marginalized and often without redress; and persistent impunity for abuses linked to insurgencies, particularly in Maoist areas, Jammu and Kashmir, Manipur, and Assam.

Widespread protests over the gang-rape and death of a female student in New Delhi in December 2012 yet again drew international and domestic attention to the

need for institutional reforms to ensure human rights protections in India. The government responded by enacting long-overdue reforms to India's criminal laws to better address gender-based violence. But new reports of violence against women and girls exposed the wide gap between laws on the books and their implementation.

The fact that the government responded to public outrage confirms India's claims of a vibrant civil society. An independent judiciary and free media also acted as checks on abusive practices. However, reluctance to hold public officials to account for abuses or dereliction of duty continued to foster a culture of corruption and impunity;

Investigations into Extrajudicial Killings

In December 2012, the National Human Rights Commission told the Supreme Court it had received 1,671 complaints of extrajudicial killings in the last five years.



Following his 2012 visit to India, the UN special rapporteur on extrajudicial, summary or arbitrary executions, Christof Heyns, stressed the need to end impunity and bring perpetrators promptly to justice.

The courage and persistence of human rights activists and victims' families resulted in a number of court interventions and investigations into deaths at the hands of security forces. In many cases the authorities had falsely claimed that the deaths occurred during armed exchanges or in self-defense.

In July 2013, the Supreme Court set up an independent panel led by a retired judge after groups from Manipur state filed a public interest petition seeking an investigation into 1,528 alleged extrajudicial executions between 1979 and 2012. The panel looked into six emblematic cases of alleged unlawful killings and found all violated the law. It also observed that security forces were wrongly being shielded by the Armed Forces Special Powers Act (AFSPA), which forbids the prosecution of soldiers without approval of the central government. Because officials rarely grant approvals, troops often enjoy effective immunity from prosecution.

In January 2012, the Supreme Court ordered an independent panel led by a retired judge to look into 22 alleged extrajudicial killings by police in Gujarat state between 2002 and 2006. On Supreme Court orders, court martial proceedings began in September 2012 against army officers accused by the Central Bureau of Investigation in the extrajudicial executions of five villagers from Pathribal in Jammu and Kashmir in 2000. The Armed Forces Special Powers Act shielded the officers from prosecution in a civilian court.

In July 2013, the Central Bureau of

Investigation filed charges against policemen responsible for the 2004 killing of Ishrat Jahan, a young student, and three others in a faked armed encounter. In September, D.G. Vanzara, a senior official arrested along with 31 others from the Gujarat police for their alleged role in extrajudicial killings, wrote a letter claiming the killings took place while they were implementing Gujarat government policy.

Repeal of the AFSPA remained a core demand in northeast states and Jammu and Kashmir, where it is in operation. However, despite calls from judicial inquiries and national and international human rights bodies, the government failed to abide by its promise to repeal the abusive law because of strong opposition from the army.

Communal Violence

According to government estimates, 451 incidents of communal violence were recorded in the first eight months of 2013, compared to 410 incidents in all of 2012. Among these were clashes between Hindu and Muslim communities in August in Kishtwar town in Jammu and Kashmir, which killed three people and injured many others. In Bihar, an August altercation at a roadside eatery led to Hindu-Muslim clashes killing two people and injuring nearly a dozen. Over 50 people died in Hindu-Muslim violence in Muzaffarnagar in western Uttar Pradesh state in September. There is a risk of more violence in the run-up to the 2014 elections as political interest groups exploit tensions between the two communities.

Maoist Insurgency

Violence linked to an armed campaign in central and eastern India by the Communist Party of India (Maoist), known as Naxalites, led to the death of 384 people, including 147



civilians, in 2013. In May, Maoists attacked a convoy in Chhattisgarh, killing at least 20 people, including senior Congress Party politicians.

Tribal villagers and civil society activists, caught between the Maoists and the police, remained at risk of arbitrary arrest and torture by government forces, and of extortion and killings by Maoists.

Contrary to court orders, government security forces continued to occupy school buildings as bases for operations in Maoist-affected areas, endangering students and teachers, and depriving some of India's most marginalized children of access to education. Maoists continue to target schools in bombing attacks.

In 2013, members of a Dalit cultural group, charged in 2011 under India's draconian counterterrorism law, remained subject to prosecution for their alleged support of Maoist militants. Courts have repeatedly ruled that ideological sympathy alone does not justify criminal charges.

Freedom of Expression

Repeated abuse of section 66A of the Information Technology Act by police and other state authorities to stifle Internet freedom led the central government to issue an advisory in January 2013 making it mandatory for police to seek clearance from high-ranking officials before making arrests under the law. While this was an improvement, the provisions are still subject to abuse and used to criminalize free speech.

In April 2013, India started rolling out a Central Monitoring System to monitor all phone and Internet communications raised further concerns of abuse since current legal frameworks may not provide adequate

oversight or safeguards for the right to privacy. According to recent transparency reports from Google and Facebook, India is second only to the United States in seeking private information about users from these companies.

On occasion, state governments gave in to the demands of interest groups to censor material such as books, talks, and film screenings.

Restrictions on Civil Society

India continued to use the Foreign Contribution Regulation Act (FCRA) to stifle dissent by restricting access to foreign funding for domestic nongovernmental organizations (NGOs) that have been critical of the government. The government targeted groups protesting against nuclear plants and big infrastructure projects. Among groups that lost permission to receive foreign funds was Indian Social Action Forum, a network of more than 700 NGOs across India.

Protection of Children's Rights

Many children in India remained at risk of abuse and deprived of education. Despite efforts to forbid any employment of children under 14, millions remained in the work force, including the worst forms of labor. By some estimates nearly half of India's children under the age of five are malnourished. Thousands of children remain missing, many of them trafficked within and outside the country.

The 2009 Right of Children to Free and Compulsory Education Act led to increased enrollment. However, children from vulnerable communities, particularly Dalits and tribal groups, faced various forms of discrimination, with many dropping out and eventually becoming child workers.

Despite enacting a strong law in 2012, the



government failed to embark upon systemic reforms that are needed to ensure the protection of children from sexual abuse.

Women's Rights

After the uproar over the gang-rape and death of a student in New Delhi in December 2012, the government instituted a three-member committee to propose legal reforms to better address gender-based violence. Based on the commission's findings, parliament adopted amendments introducing new and expanded definitions of rape and sexual assault, criminalizing acid attacks, providing for a right to medical treatment, and instituting new procedures to protect the rights of women with disabilities who experience sexual assault.

Despite these important reforms, key gaps remain. For example, Indian law still does not provide adequate legal remedies for "honor killings," or victim and witness protection. Parliament disregarded opposition by rights groups and in April 2013 expanded the scope of death penalty in rape cases.

In June, a local court ordered the reopening of the investigation into alleged mass rapes in the villages of Kunan and Poshpora in Jammu and Kashmir's Kupwara district in 1991. Residents of the villages allege that soldiers raped women during a cordon and search operation.

Hundreds of rapes were reported across the country in 2013. Protests renewed in August after the gang rape of a journalist in Mumbai, accompanied by new calls for greater safety measures for women in public spaces.

In April, India adopted the Sexual Harassment of Women at Workplace (Prevention, Prohibition, and Redressal) Act

2013, which includes domestic workers employed in homes, and sets out complaint mechanisms and the obligations of employers to provide a safe working environment.

Palliative Care

After a series of positive steps in 2012 to address the suffering of hundreds of thousands of persons with incurable diseases from pain and other symptoms, progress on palliative care in India slowed considerably in 2013. The government has so far not allocated a budget to implement India's progressive national palliative care strategy and parliament failed to consider critical amendments to the Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act that would dramatically improve the availability of strong pain medications. More than 7 million people in India require palliative care every year.

Rights of Persons with Disabilities

Even as India engages in a reform process to implement national disability and mental health laws, activists remain concerned that these laws are not in line with the Convention on the Rights of Persons with Disabilities, which India ratified in 2007.

Instances of violence against women and girls with mental or intellectual disabilities including involuntary confinement, physical and sexual abuse, inhumane or degrading treatment, and excessive electroshock therapy remained particularly high in state-run and private residential care facilities, which lack adequate oversight. Within the family and community, women and girls with disabilities also experience violence, including involuntary sterilization.

Death Penalty

India ended its eight-year unofficial moratorium on capital punishment in



November 2012 with the hanging of Mohammad Ajmal Kasab, a Pakistani convicted of multiple murders in the high-profile November 2008 attacks on luxury hotels and the main railway station in Mumbai. In February 2013, the government executed Mohammad Afzal Guru, convicted for a December 2001 attack on the Indian parliament. Since taking office in July 2012, President Pranab Mukherjee has rejected 11 clemency pleas, confirming the death penalty for 17 people.

Indian law permits the death penalty only in the “rarest of rare” cases, but in November 2012 the Supreme Court ruled that this standard had not been applied uniformly over the years and death penalty standards needed “a fresh look.”

Key International Actors

Sexual violence against women in India drew international condemnation in 2013. After the notorious December 2012 New Delhi gang rape and murder, UN Secretary-General Ban Ki-moon called on India to take “further steps and reforms to deter such crimes and bring perpetrators to justice.” Attacks on foreign tourists led some countries such as the United States and the United Kingdom to issue travel advisories telling women travelers to exercise caution.

Despite the enormity of India’s human rights problems, countries that normally raise human rights issues in their foreign relations continued their low-profile approach to the world’s largest democracy.

India’s Foreign Policy

India did not live up to expectations in promoting respect for democracy and human rights in its foreign policy. Although the country aspires to a growing role in world affairs and a permanent seat on the UN Security Council, it did little to address some of most pressing problems confronting the world in 2013, such as the crises in Syria and Egypt.

At the UN Human Rights Council, India has rarely supported human rights resolutions on specific countries. While it usually opts for a policy of “non-interference in the internal affairs” of other countries, India notably supported HRC resolutions in 2012 and 2013 calling for accountability for alleged war crimes in Sri Lanka. It has also backed restoration of an elected government in Nepal.

In bilateral engagements, India called on the Burmese government to promote religious tolerance and harmony after attacks on Rohingya Muslims in Arakan State and on Muslim communities in central Burma in several incidents during 2013.

India engaged in promoting stability and human rights in Afghanistan, pledging nearly US\$2 billion for the country’s rehabilitation and reconstruction efforts, supporting education of girls, providing some police training, and granting asylum to a number of activists fleeing Taliban threats.

The Author is Executive Director, MPHRC

Complied in Research Officer, MPHRC.





Environment change may cause acute conflicts

● Jyotshna Pandit

Environmental change and resource depletion are potential causes of violent conflict. Therefore, environmental degradation is a potent contributor to insecurity and conflict. The scarcities of renewable resources are already contributing to violent conflicts. The resource constraints are a crucial factor to contribute to insecurity. The competition for resources has been a significant cause of conflict.

The inter-relationships between environmental change, conflict and peace have been debated at different levels in recent past across the developing world. Environmental stress is emerging as a major threat to peace and security in the least developed nations. There is a direct correlation between environmental degradation and conflict. Due to rapid population growth, the per capita environmental resources are shrinking. The poor people are denied access to vital resources like land and water. There are conflicts between cultivators and pastoralists. Alongside, there is increasing problem of environmental refugees. Due to development pressures, the growing environmental pressures may also soon create insecurities and possible conflict in countries such as China, India and Brazil.

The concept of security is expanding from

beyond militaristic threat, vulnerability and response mechanisms. New challenges are posed by scientific and technological innovation, economic development and environmental stresses. Environmental degradation can cause conflict and instability in least developed nations. The security institutions are required to be build up to protect environmental amenities and services as well as the commons. Trans-boundary pollution and resource conflicts may result in use of force to enforce international environmental law. Sometimes, conflict can be a constructive force calling can be a constructive force calling for institutional change. Environmental stress and resource scarcity put pressures on existing institutions and to bolster and adapt institutions to manage environmental conflict effectively. Likewise, poverty reduction, bridging the gaps between haves and have not, and



promotion of human rights will improve the security scenario and ensure peace. Environmental change can also significantly increase vulnerability to climate change.

Demographic pressure, resource degradation and inequitable resource accessibility are worsening due to conflict and violence. Environmental stress is posing the greatest challenges to achieve the Millennium Development Goals (MDGs) in developing countries. Environmental scarcity has profound effects on societal stability too. The resource control rights and accessibility in conflict zone causes high insecurity and inequity. In conflict zones, the valuable “conflict” commodities oil, diamonds, timber, illicit drugs can cause high competition to access or control the resources. The result can be a prolonged conflict. This is due to potentially huge rewards from controlling such resources. The declining resources have a profound impact on livelihoods and society. Such situation is compounded by environmental damage. The conservation and sustainable management activities may inadvertently cause or exacerbate instability too. Social inequalities, governance failures, poverty and resource un-sustainability are closely linked. Growing environmental scarcity perpetuates underdevelopment and promotes conflict. Indicators of environmental pressure, sustainability and degradation are not uncontroversial. Environmental change and resource depletion are potential causes of violent conflict. Therefore, environmental degradation is a potent contributor to insecurity and conflict. The scarcities of

renewable resources are already contributing to violent conflicts. The resource constraints are a crucial factor to contribute to insecurity. The competition for resources has been a significant cause of conflict. The resource scarcity, human rights abuses, outbreaks of infectious disease, and environmental degradation are non-conventional threats to peace and human security. Conflict might be stimulated by environment change and use of energy resources. The changes in social system have been due to actual or perceived climate impacts. The security is also a function of environmental sustainability. Security is needed to be understood at regional, global and community levels. There is need to broaden the concepts of security. New range of threats such as population growth, resource scarcity, and environmental degradation are vital in this context. The security is equated with human well being. Security also includes protection from harm and injury. It also includes access to water, food, shelter, health, employment and other basic amenities of life decent living.

Impacts of environmental change and climate change have been noticed in social-ecological systems. Famine is triggered by drought. However, political and economic management of entitlements to natural resources are more significant. Poverty, inequality, market failures and policy failures are more potent causes of ‘natural’ disasters. Environmental change and stress also causes famine and natural disaster.

Courtesy :- The Hitavada





Curbing medical negligence ?

● Dr. S. Saraswathi

The situation in India is far different as the victims and their relative are mostly not in a position to fight legal battles. They have neither the time nor resources to seek legal remedies. In most cases, knowledge and information needed for asserting one's rights are also sadly missing. They accept results of treatment as divinely ordained. The doctor and the hospital are but messengers of God, executing the pre-deter-mined fate.

The medical fraternity in India must be in a state of shock. The recent Supreme Court verdict asking a Kolkata-based hospital and three doctors to pay a

hefty amount as compensation for medical negligence in a 15-year-old case, may well be a trend-setter, much to the chagrin of the both hospitals and doctors. The apex court raised the compensation of Rs. 1.73 crore granted earlier by the National Consumer Disputes Redressal Commission to Rs. 5.96 crore plus interest for nearly 15 years, taking the compensation to over Rs. 6 crore! An amount far exceeding compensation awarded so far for medical negligence in the country.

The case pertained to the death of a young woman during treatment in a hospital way back in 1998 due to medical negligence. The compensation is to be paid to the husband, who took the matter to the court. The victim, the plaintiff, and the defendants in this case belong to the field of medicine.

Indeed, it is a historic judge-ment hitherto

unheard of in India although cases of medical negligence and malpractices taken to courts are not uncommon. The penalty imposed is justified by the court as a deterrent and a reminder to those doctors, hospitals, and nursing homes who do not take their responsibility seriously.”

The compensation amount is said to have been calculated taking into account the loss of income of the deceased, who was a child psychologist practicing in the US, loss of consortium, pain and suffering and the cost of litigation.

The judgement emphasizes the responsibility of the hospital to provide efficient service as an institution from which people expect medical service. Hospitals are expected to provide service through the doctors they employ whatever be the nature of their employment full time paid, or on contract. Additionally, the doctors are individually responsible for the treatment given and for maintaining the standards of medical care expected in the fraternity.



Medical negligence may be shown by a wilfully wrong act or omission, or by providing a treatment below the standard practice.

The judgement has also noted that it is the doctors' duty to take the required precautions to prevent spread of infections from patients. More so, as hospitals should not and cannot become a place for spreading infections.

Undeniably, this incident is a wake-up call to hospitals and medical personnel. It is a timely attack on the state of hospitals in general, lack of proficiency and commitment of many doctors, the behaviour of para-medical personnel in hospitals and nursing homes, and the state of pharmaceutical business. The general public to whom the medical industry as a whole caters has plenty of grievances against it in every aspect. Complaints are voiced, response is nil and the public helpless.

This judgment has altered the guarded position to doctors implied in a 2005 decision of the Supreme Court that they cannot be prosecuted as criminal offenders unless there is compelling evidence. Recall, that medicare was brought under the Consumer Protection Act of 1986 in 1995 by the Supreme Court. Not only the course of the treatment, but also the services rendered by way of diagnosis - both medicinal and surgical - were included as "service" and brought under the protection of the Act. There was a fear then that judicial activism in this matter could lead to harassment of medical professionals, including the honest and committed among them.

However, the tread in health services points to degeneration in many respects despite tremendous progress in diagnostic techniques, treatment methods, and medicines. Medical science has progressed,

Commercialization of the medical profession is a term increasingly used to refer to the rot that eats into the system. It is said to be the root cause of all evils in the system and its operators. It takes medical treatment and medicines beyond the reach of the middle classes not to speak of the poor. Commercialization is a cause of several malpractices and medical practice in past few years has degenerated into a lucrative industry.

but not the human qualities of those involved in the application of this science in different capacities. On the contrary, the more the technical advancement in the health sector, the greater the scope for malpractices and negligence!

Commercialization of the medical profession is a term increasingly used to refer to the rot that eats into the system. It is said to be the root cause of all evils in the system and its operators. It takes medical treatment and medicines beyond the reach of the middle classes not to speak of the poor. Commercialization is a cause of several malpractices and medical practice in past few years has degenerated into a lucrative industry.

Medical malpractice refers to "improper, unskilled, or negligent treatment of a patient



by a physician, dentist, nurse, pharmacist, or other healthcare professional.” It comes under Tort Law - a field rather weak in India. In recent years only, it has become a serious social issue in our country.

Medical negligence is found to be the third major cause of death in the US just below heart ailment and cancer. Legal disputes on this account were found increasing so enormously that in 2003, the American President approved a legislation to put a ceiling of 250.00 on non-monetary compensation.

The situation in India is far different as the victims and their relative are mostly not in a position to fight legal battles. They have neither the time nor resources to seek legal remedies. In most cases, knowledge and information needed for asserting one's rights are also sadly missing. They accept results of treatment as divinely ordained. The doctor and the hospital are but messengers of God, executing the pre-determined fate.

Despite such indifference ingrained in the minds of the average Indians, some amount of awareness about medical negligence and exploitation is spreading fast today. Hopefully, the recent judgement is likely to encourage the trend. More so, as medical negligence and malpractice take various forms besides faulty diagnosis and treatment. Forcing a product, a procedure, or investigations for monetary gain are also forms of malpractices. Clinics and laboratories conducting various tests have

increased and are also enjoying a flourishing business. No wonder, an unhealthy nexus grows between doctors and labs giving rise to unwanted tests - a type of common medical malpractice.

Those who seek medical service, however eminent they may be, totally depend on the advice of the service providers. Hence, the responsibility on the medical personnel is total as far as service is concerned.

Besides, growth of private hospitals is noticeable since the mid-80s coinciding with economic liberalization. These hospitals are not entirely private in the sense that they get many concessions from the Government in land allotment, import duties for equipment, etc. Hence, their obligation to the people as healthcare providers is no less than that of hospitals in the public sector.

But, the cost of treatment at private hospitals is beyond the reach of the poor and lower middle classes. These classes depend on the public sector health providers which are developing structural and functional deficiencies day-by-day which result in medical negligence and encourage malpractices. The blame, therefore, has to be heard with extreme sobriety. The present judgement should not act as a deterrent for medical innovations.

A complicated question in dealing with medical malpractice is the amount of compensation some norms have to be followed, lest it should appear as arbitrary and invidious distinction between victims.

Courtesy :- The Cronicle





Can't do without teachers

● Team Viva



Teacher's work doesn't end with the end of the session but it is a process of constant evolution for the new ways of imparting education in a beneficial manner, says.

A teacher is the future maker of the society and is one of the most important figures who acts as a catalyst in the making of responsible citizens from students. Students who need care, affection and guidance are helped by teachers in responsible manner.

Teaching profession is a noble profession that is full of sacrifice and devotion. Each alphabet of the word TEACHER signifies its meaning. T-Truthfulness, E- Eagerness, A - Awareness, C- Character and Communication, H - Humility, E- Education and R- Resourcefulness.

The saying, 'Guru Brahma, Guru Vishnu, Gurudeva Maheswar, Guru Sakshat Param Brahma, Tashmai Shri Gurave Namah' holds very true in respect to the teacher in which a teacher is described equivalent to god. This is a universal truth that good education and teaching could helps in the formation of a good future citizen having civic sense, adhering to social values and apart from all the qualities it develops a good human being.

Even the creator of the universe GOD (Generation, Operation & Destruction) is very significantly associated with teacher. Teachers by definition are ardent scientists or engineers, they also have a surprisingly wide range of other passions such as art, sports, music, dance, drama, and many more.

First and foremost, a teacher should be a role model for the students. The students follow the teacher in several aspects due to which a teacher holds responsibility to

display proper manners, dress, behaviour and ethics before the students apart from this a teacher should also try to maintain the same decorum exhibit in life beyond school.

A teacher should always be a friend, philosopher and guide to the students. The commitment to quality of a teacher is never satisfied with an average' performance.

Hard work is research and planning must be done before teaching, which would help them in two ways. High confidence level of the teacher would be the first benefit due to possession of proper information about the subject and could handle the queries in a better manner. Secondly students would be able to grasp the information with interest and would remember it for long.

A teacher should be committed to understand the students which help in communicating with the students in a proper manner. A good listener is one of the most important qualities of a teachers as it would allow understanding the problems, questions and concerns of the students.

Teachers should have a positive attitude. They have to work in difficult situation and are seen overworked several times and one more common problem reported by the teachers is that they are under paid but in spite of all these hurdles they have chosen their profession which has the contentment of building better future citizens who would help and bring positive change in the society for the betterment of the people and for the people.



School is not a place for complaints and negativity. Teacher's work doesn't end with the end of the session but it is a process of constant evolution for the new ways of imparting education in a beneficial manner.

Teachers should also try to update about the best practices in the field, including new techniques, methods, materials and technologies. For updating, Training Programmes are very useful. Training refers to the acquisition of knowledge, skills, and competencies for the teaching of vocational or practical skills and knowledge that relate to specific useful competencies. Training and updation in their respective subjects for the professional development is a must for all teachers. In the current scenario interest in several subjects and streams has been declined or completely vanished. The students are interested in learning things which are job oriented but are not practical and including social values.

A teacher plays a vital role in inculcating temper and developing interest regarding a subject and stream. Among the teachers, the role of science teachers in the schools is unique and significant.

Even the other faculty teachers should always try to upgrade their respective subjects and adopt the latest new technologies and techniques to make their class rooms more lively. The concepts of science can be understood better and more precisely when explored through physical and intellectual interaction.

To commit it creative pursuits in the accomplishment of science teaching learning processes more lively, to eradicate superstitions prevailing in the society and ignite the minds of students towards positive logical thinking, the teachers efforts are inevitable. There are a variety of teaching tools that a teacher should get acquainted

with. With these teaching aids the teaching learning process becomes easy and creates interest among the students.

Teaching aid can be a device, object, equipment, machine illustration, simulator, computer software or applications with slides, power point presentations, video films, Live-demos, digital images, movies and records for demonstration. Some scientific principles or phenomena that are very difficult to visualise can easily be understood when one sees, does or experiences in three dimensional physical realities.

Imparting knowledge and education not only needs intellectual skill and subject knowledge but also ensures that the content matter is understandable to the students in a simple and lucid manner and retaining them in the minds of learners for a longer duration.

There are several organisations or educational training institutes across the country which are engaged for the betterment of the education system and teaching-learning process. The Science Centres all over India (constituent units of National Council of Science Museums) located in the picturesque of different cities are dedicated to enhance the understanding of science education through a plethora of activities related to science for the general public, students & teachers in particular by taking science to people and making people for science. The science teaching learning process becomes livelier through these inquiry based hands-on, minds-on investigation learning strategy adopted by these Centres and similar institutes.

A mediocre teacher tells, a good teacher explains, best teacher demonstrates and great teacher inspires, defines the characteristics of a teacher.

(Courtesy :- The Pioneer)





Children In Peril?

● Anshuman Bhargava



People's movement is profuse along the Indo-Bangla and Indo-Nepal borders both through legal routes as well as illegal short-cuts, and one can easily pass off as a relative or a member of the family coming from this side or from that side of the border because people's relatives are indeed spread across borders.

Darjeeling, once the most famous of all hill stations in the country, has been in news for all the wrong reasons. The beautiful town nestled in the Himalayas is no longer so beautiful. Not just because of the political turmoil, violence and bloodshed it has seen over the past few years but for another reason, equally serious and urgent, though it has bypassed the media glare. Darjeeling district, according to a news report, has recorded a whopping 924 cases of missing children in 2012—most of them girls.

Too many are lost and too little is done for them. Alarmingly, FIRs have been registered only in 4 per cent of cases of missing children even though the Supreme Court has made it mandatory for police stations across the country to compulsorily register cases of missing children as well as appoint a special police officer to handle complaints of juveniles. National crime records bureau states that over 19,000 children were missing in West Bengal during 2012, a report published in 'The Hitavada' says.

West Bengal makes a special case not because of its administrative failure per se but because of its porous borders with Nepal

and Bangladesh, due to which child trafficking is hard to track and harder still to tackle. And since the people of the hills share linguistic and physical similarity with their Nepalese kin, and those of the plains do the same with their Bangladeshi counterparts, checking trafficking becomes all the more difficult.

People's movement is profuse along the Indo-Bangla and Indo-Nepal borders both through legal routes as well as illegal short-cuts, and one can easily pass off as a relative or a member of the family coming from this side or from that side of the border because people's relatives are indeed spread across borders. West Bengal's geographical location is advantageous to traffickers, who use it as a safe and convenient transit point between countries. Social factors like poverty and illiteracy play a big role in abetting this unfortunate trade and traffickers mostly target kids of remote villages, taking them away to faraway places from where they are least likely to track their way back home, though few would even ever try to.

The children are taken for cheap labour in factories or business establishments, where



Missing children is not a State specific problem but a very active and topical national phenomenon, because of which the apex court had to chip in and take stock. Thousands of children go missing from various parts of the country every year is it by way of baby stealing or murder. Can anyone forget the gory Nithari incident that shook the nation, making it suddenly realise with a shudder how unsafe the children of the country are?



they are flogged, underpaid and put to hazardous works in unhygienic conditions. Some are forced to beg while most are forced into sex trade and some are even used for organ trade. Lure of money and false hopes of better prospects for their half-starved ill-clad kids force the parents to part with their children.

Already clinging on the lowest rung of society, the poor know they can't get down any lower than that. A loser who has nothing can't lose anything. The poor parents believe,

whatever happens, their children can't have a life any worse than what they are already having. Any life would be better than this, they are made to believe.

Missing children is not a State specific problem but a very active and topical national phenomenon, because of which the apex court had to chip in and take stock. Thousands of children go missing from various parts of the country every year is it by way of baby stealing or murder. Can anyone forget the gory Nithari incident that shook the nation, making it suddenly realise with a shudder how unsafe the children of the country are? It is a hidden fact any longer how Goa and Kerala have become havens for paedophiles?

Women and children are the most vulnerable sections of society who have no social security in the country, even if on paper everything seems right and working. It is not just about missing children, children are unsafe here even inside our homes, where prying relatives seek openings for mischief.

This happens because the redressal system is poor, there is no fear of the law, the police are non-cooperative, and no one listens to children's problems. Children are an uncared lot here-let alone rampant malnourishment and widespread crime against children in the country, thousands die every year in preventable mishaps like by falling in trenches and holes dug for borewells, or kite flying or dawning or in road accidents etc, which are instances of sheer parental negligence.

The parents wake up only after a disaster happens, and soon forgetting the sorrow, start



blaming the administration with an eye on the possible dole that can be extracted from the Government. The Government has other priorities. Who in the world has time for children? Schemes for children are mostly ill-planned and are measly and those which are there are hardly fruitful or followed in letter and spirit. Child labour is banned in the country and compulsory education till the age of 14 is mandatory but neither the schools are full yet nor have the use of child labour in hotels, dhabas and the industries stopped.

Mumbai's railway yards and many others in the country are still dens of drug and smoke where childhood is sacrificed every hour and its platforms are still homes to thousands of children who spend their days boot polishing and the nights fighting, abusing and starving.

The Governments are unfazed by these aberrations, we have come to accept Government callousness at all levels-power corrupts we know-but what surprises is, the silence of the ever-vociferous Opposition parties in State Assemblies and at the Centre.

Those who don't let go a single occasion to fight the Government on every heck of an issue worth its name, don't find any reason to do the same on the issues of child labour, child trafficking etc. Can anyone claim these things are not happening in the country?

We are all privy to the sin and are tacit perpetrators of the crime as long as we are accepting it as a reality and doing nothing. Much more needs to be done than a 1098 helpline or a juvenile justice board. But who will do that? We are simply not concerned enough. In a country where human life holds so little value, in a country where people live



Mumbai's railway yards and many others in the country are still dens of drug and smoke where childhood is sacrificed every hour and its platforms are still homes to thousands of children who spend their days boot polishing and the nights fighting, abusing and starving.



and die like insects, sexing, fighting, struggling and starving, where do children stand?

They are just too insignificant to merit much attention. That is the reason why perpetrators find it so easy to prey on Indian children, use, and abuse and exploit them as per need and convenience, and reap the harvests at the cost of innocent lives.

By the way, if India doesn't wake up to this unhappy reality, it has dark days ahead as it is playing with its future, wherein lies its hopes, potentials and possibilities. By being negligent towards the security of its children, by compromising on their security, it is digging its own grave.

(Courtesy :- The Hitavada)





Potent threat we are overlooking

● Kota Sriraj

Environmental degradation is one of the '10 threats' identified by the High Level Panel on Threats, Challenges and Change of the United Nations. The degradation is a result of the dynamic interplay of socio-economic, institutional and technological activities causing depletion of natural resources such as water, air, soil, in addition to loss of habitats, biodiversity, and leading to global warming.

Large-scales resource exploitation and progressively lower agricultural yields on degraded lands are compelling the poor to overuse their limited resources such as forests and grasslands. This has harmed the environment

Environmental degradation is one of the '10 threats' identified by the High Level Panel on Threats, Challenges and Change of the United Nations. The degradation is a result of the dynamic interplay of socio-economic, institutional and technological activities causing depletion of natural resources such as water, air, soil, in addition to loss of habitats, biodiversity, and leading to global warming. According to the National Oceanic and Atmospheric Administration of the US and the National Aeronautics and Space Administration data, the Earth's average surface temperature has increased by about 1.2 to 1.4 degree Fahrenheit in the last 100 years.

Over the past decade, India has witnessed a rapid growth and it came with its cost. The accelerated growth has displayed an

insatiable appetite for natural resources and worrying levels of majority of its population. The report states that environmental degradation is costing India around 5.7 per cent of its GDP every year, or approximately ` 3.75 trillion (\$ billion), and put burning of fossil fuels as the main cause for declining health in the productive urban youth.

Furthermore, in a recent survey of the environment of 132 countries, India was ranked 126th overall. The survey concluded that India has the worst air pollution in the entire world, beating China, Pakistan, Nepal and Bangladesh. According to another recent World Health Organisation survey, across the G-20 economies, 13 of the 20 most polluted cities are in India. As the country's population is set to increase to about 1.26 billion by the year 2016 India will eventually be having 18 per cent of the world's population and covering 2.4 per cent of the world's total area. All of this is bound to make severe demands on its natural resources resulting in water shortage, soil exhaustion and erosion, deforestation, air and water



pollution.

The problem is becoming complex as the lack of opportunities for gainful employment in villages and the ecological stresses is leading to an ever-increasing movement of poor families to towns. The result is the growing trend in deterioration of air and water quality, generation of wasters, the proliferation of slums and undesirable land use changes, all of which contribute to urban poverty.

In addition, the manufacturing sector has strained the environment through intensive resource and energy use, as is evident in natural resource depletion, water, air and land contamination, health hazards and degradation of natural ecosystem. This is compounded by an equally callous and polluting transport infrastructure that has adversely impacted the environment due to air, noise pollution and oil spills from marine shipping.

Bringing about a change in this scenario needs an urgent addressing of the cause and consequences of environmental degradation. This in turn needs an initiative-driven, democratic and decentralised governance which involves local actors concerned with development such as policymakers, businesses, non-governmental organisations and community representatives who in turn are motivated to set up local charters for sustainable development. As a part of this, awareness generation is of critical importance. This can be achieved by establishing centres for collecting and disseminating information. Social media and communication can serve as effective for this action. Setting up Internet information platforms that can boost information exchanges on climate,



The problem is becoming complex as the lack of opportunities for gainful employment in villages and the ecological stresses is leading to an ever-increasing movement of poor families to towns. The result is the growing trend in deterioration of air and water quality, generation of wasters, the proliferation of slums and undesirable land use changes, all of which contribute to urban poverty.



environment and sustainable development will go a long way in achieving the objective.

The Government also needs to seriously consider steps to rein in population growth and provide impetus to poverty alleviation as both of these have a complex linkage with the state of environment. Additionally, revenue generating sectors such as ecotourism must be promoted in a manner that is environmentally friendly and sustainable as this can provide much-needed commerce and opportunities for employment. Tourists should be encouraged to live in the homes of local people where they can experience their unique culture and lifestyle. In this way, building of new structures can be avoided and the strain on environment lessened.

(Courtesy :- The Pioneer)





In Search of roti & kapda

● Team Viva

- **Migrants pay a heavy social, economic and health costs. Reasons : ●**
- **Unwillingness of profiteering employers, indifference of State, and exclusionary attitude of cities and city dwellers to invest in welfare measures for this invisible, voiceless class generally perceived as encroachers than a contributor. ●**

In Harai block in Chhindwara, Mangu lives on his meagre farms, which sustains him and his family for not more than four to five months. He moves around to different locations, for the rest of the year to sustain himself. Currently, he works at a construction site in Bhopal, as a daily wager at Rs 150 per day, His wife has also joined him with their six-year-old son, leaving behind their two daughters and old parents. There are several like him, from the same village, who have travelled alone or with one or two able bodied person to cities in search of livelihood.

Mangu's son has stopped going to school. He plays around, while his mother works, living on two dry chapatis that his mother cooks in the morning. There is no anganwadi at the worksite to take care of some 100-odd small, meagrely fed children that play around in nearly dangerous situation. Mangu still continues to come to these cities years after years as they provide him livelihood.

A large number of migrants, move from rural to another rural due to regional disparities in agriculture, while some move to urban. In a survey, conducted in Harai block of Chindwara, migrating from rural to

rural areas. There are approximately 70 lakh seasonal migrants in Madhya Pradesh. About 65 per cent of them are cyclical migrant that migrate for short duration, from rural to rural areas primarily as agriculture labour. However, due to uneven rise in per capita income between cities and villages, a large number of migrants move to cities in search of better livelihood option in construction, street vending, head loaders, domestic helpers, petty workers in restaurant, textiles and other industries. These are usually seasonal migrant moving for six to eight months and make for approximately 25 lakh invisible, apparently illegal habitants of cities. Construction sector alone accommodates more than 15 lakh migrants moving to cities in search of employment.

This moving population, moving in search of livelihood, differ from one another. Even among the unskilled poor migrants, some move to cities with the intent of permanently settling down, some other, like Mangu move for few months during the lean agriculture period, some move in cycles when there is heavy demand in cities, while many commute daily. Most of these categories are invisible, not recorded in census. or records of city



authority and can demand nothing from particularly the seasonal and cyclical migrants, send a substantial earning back home, and left with very little for self consumption, therefore live on pavements, informal settlements or worksites with no dignity, no rights.

It is empirically verified that migrants pay a heavy social, economic and health costs. Reasons being cited are unwillingness of profiteering employers, indifference of State, and exclusionary attitude of cities and city dwellers to invest in welfare measures for this invisible, voiceless class generally perceived as encroachers than an contributor. Their children are forced to leave schools, anganwadis and security of their homes to be able to migrate with the parents. UID cards in India provide only for uni-locations, and most entitlements are fixed for a particularly residential identity and non-potable. Multi-locational nature of migrants leads not only to forgoing of entitlements, but also the identity, that is basic to claim any social protection measures. Their entitlements or ration cards, health cards are rendered invalid at destination cities. The seasonal migrants migrating for several years in succession also do not secure residence proofs, and are forced to forge one, for getting an electricity connection. Therefore these frequently moving largely unskilled workforces mostly do not stand a chance for any entitlement and social protection in the city. The process of migration forces them to lose identity, entitlements, sometimes rendering them homeless and extremely vulnerable.

The first thing that migrants require are the identity proofs and a migrant worker card that

allow them for a minimum entitlement when they move out from homes. When they move to more hostile and harsh environments of metros, the minimum and immediate need is temporary shelters, to prevent homelessness and absolute destitution. 'Raein Baseras' the temporary shelter homes for destitute and homeless are too few to accommodate the large number of in need for home' migrants. For instance there are two functional shelter homes in Indore and four in Bhopal, with a capacity to accommodate 20 to 25 persons. There are no specific dedicated shelter homes for women or families with women and young girls. Therefore, migrants moving with families never take it up. Most migrants moving to Bhopal, Indore or other bigger towns, moving out from Betul, Chindwarsa, Jhabua, Chatarpur or other poor districts, move in extremely distressed conditions, and normally with their wives and very small children. The shelter homes in present condition are unsafe for women and not occupied by the migrant workers. It is seen that most such homes are occupied by students, construction sector workers or in some specific cases, such as one located adjacent to Sultania hospital in Bhopal caters to relatives of poor patients. A survey conducted by Samarthan found that around 59 percent of Raein Basera occupants are relatively permanent, some even living for years. Also 15 per cent occupants in Bhopal's Raein Baseras are semi-skilled labour earning around Rs 10,000 per month and living for months together. Therefore most of these Raein Basera are not available for migrants in desperate search for home and shelter. With election round the corner and parties making promises, one promise that



parties need to make more than 'one lakh migrant families' is increase in the number of temporary shelter homes' available for migrant families.

Secondly, construction sector is the biggest employer of the migrants, A large per cent of the construction workers live on sites, therefore the 'Rain Baseras should be located' near the peripheral boundaries of the cities, or near large construction sites, It will be tremendously useful to extend the 'Ram Roti Yojna', the scheme to provide subsidised cooked meal sometimes collected as leftovers from the neighbourhood, to all the construction sites employing more than 200 workers and having at least 100 families living on worksites face large difficulties in storing uncooked food items as they buy ration at steep prices. owing to their inability in storing and stocking. They can't afford to buy for even a week in one go. They have no regular arrangement for cooking, and are extremely exhausted by the end of the day to cook even a basic meal. This will not only help the workers, but also help innumerable small children, forced out of home due to migrating parents. All these children are in any case entitled for 'Aanganwadi services' promised under universal coverage. Obviously, the better choice would be to run the aaganwadis at the sites employing more than 200 workers.

Exploitation and hardships are not lesser for cyclical, rural to rural migrants. Many poor

districts such as Chindwara and Jajbua continuously provide agriculture labour to rich agriculture district such as Narsinghpur, for 15 days to two months. Apart from the arduous labour and atrocities on women folks, these cyclical migrant lose their entitlement' such as ration card or health benefit, even when they move a few miles away to the adjacent district. Portability of minimum entitlements such as a ration card voucher and health voucher issued jointly by Panchayat and field functionary of line department, enabling him/her for part-ration share transfer for one person for a maximum of two months, availed at the destination site. About 70 lakh of cyclical migrant, who truly are the deserving beneficiaries for most of the below poverty line entitlements will benefit immensely.

These migrants are citizens, they are voters too. It is becoming increasingly common to contest for the votes of migrants, Last panchayat elections witnessed heavy mobilisation of migrant vote bank. While most elections have witnessed a fierce competition for the vote of migrants; none of the political parties have seriously bothered about their issues. While education, health, social security, PDS have all been a part of election manifestos, none is useful to them due to current non-portability of these schemes. Can Mangu and 60 to 70 lakh more like him expect something favourable in this election?

(Courtesy :- The Pioneer)

□ □ □



India's weight of the world moment

● VANI S. KULKARNI, ● VEENA S. KULKARNI, ● RAGHAV GAIHA

As the country develops economically, its double burden of malnutrition and its health implications will increasingly affect women and those who are socio-economically weak

India has one of the highest burdens of underweight women in the world, with rising obesity levels. Using the World Health Organisation classification based on body mass index, or BMI (the ratio of the weight of the body in kilograms to the square of its height in metres), there were about 31.5 per cent underweight women in the age group 20-49 years in 1998. The share came down to 26.6 per cent in 2005. In contrast, the share of the overweight (including the obese) rose from 13 per cent to 18.2 per cent.

Transitional shift

The coexistence of the underweight and the overweight is often referred to as the "double burden of malnutrition." Besides, the burden of overweight (and obesity) is expected to shift to households with lower socio-economic status (SES) as India develops economically. Before a nutritional transition, the overweight and the underweight tend to be concentrated in high and low SES groups, respectively. During the transition, however, the overweight burden shifts to low SES groups, while the

underweight burden remains high, exposing them to the double burden.

Here we will focus mostly on the ratio of underweight to overweight (including obese) women. While both underweight and overweight are "bads," serious concerns have been expressed about an emerging obesity epidemic and, consequently, a growing burden of non-communicable diseases (for example, a likely epidemic of diabetes in India in the near future). So whether this ratio is less than one (more overweight than underweight women) or greater than one (more underweight than overweight women) needs close scrutiny as the health policy implications differ vastly. This analysis is based on a nationally representative survey, the India Human Development Survey, 2005.

Women & regional ratios

Our estimates show that at the all-India level, the ratio of underweight to overweight women aged 22-49 was 1.21. So, there were 121 underweight women for 100 overweight women in 2005. In the rural areas, there were



Another measure of economic status is in terms of assets (for example, motorcycle, car, refrigerator, sewing machine, television, cellphone). The association is similar to that obtained using expenditure. Underweight women were four times as many as the overweight in the lowest asset group, while they were a little over one-fifth of the overweight in the highest asset group. Thus the number of underweight women declines sharply as wealth rises.



more than twice as many underweight women as overweight but a little over a third in the urban areas.

The lowest ratio is observed in the southern region and a moderately higher ratio in the northern region, with fewer underweight than overweight women in the former and more underweight than overweight in the latter. The central region had the highest number of underweight women relative to the overweight, followed by the eastern and then the western regions.

Out of the 22 States analysed, nine (for example, Punjab, Delhi, Kerala) had fewer

underweight women than overweight ones. Punjab had the lowest number of underweight women relative to the overweight, while Kerala had a slightly higher number. In sharp contrast were six States, including Orissa, Bihar, Chhattisgarh, Uttarakhand, and Madhya Pradesh, where the number of underweight women exceeded substantially that of the overweight. In Madhya Pradesh, Uttarakhand, Chhattisgarh and Bihar, there were twice as many or more underweight women than the overweight. Orissa stood out as the worst with nearly four times as many underweight women as the overweight.

Economic status and caste

To throw light on the relationship between SES and the ratio of underweight to overweight women, we first examine the association between this ratio and per capita monthly expenditure. The higher the expenditure, the lower was the ratio of underweight to overweight women. In the lowest expenditure group, for example, underweight women were over four times as many as the overweight, while in the highest expenditure range they were barely one-third. So there is an inverse association between this ratio and affluence.

Another measure of economic status is in terms of assets (for example, motorcycle, car, refrigerator, sewing machine, television, cellphone). The association is similar to that obtained using expenditure. Underweight women were four times as many as the overweight in the lowest asset group, while they were a little over one-fifth of the overweight in the highest asset group. Thus the number of underweight women declines



sharply as wealth rises.

These monetary measures of economic status are supplemented by caste affiliation. The caste hierarchy manifests itself not just in different levels of economic well-being but also in aspects of social deprivation. Some of the most socio-economically disadvantaged groups comprise the Scheduled Tribes (STs), followed by the Scheduled Castes (SCs), and Other Backward Classes, with the residual group, Others, as the least disadvantaged. The STs are also the socially most excluded group as they are confined largely to remote regions.

Underweight women were just under four times the number of the overweight among the STs, and more than twice as many among the SCs. In sharp contrast, underweight women were two-thirds of the overweight among Others. Thus, the socio-economic patterning of the underweight and the overweight was largely intact.

Age factor

Age matters too. There is an inverse association between the ratio of underweight to overweight women and age-group of women. The ratio was highest in the youngest, aged 22-28, and lowest in the oldest, aged 43-49. In the former, underweight women were three times as many as overweight women but in the latter just two-thirds.

The effect of marital status ever married women on the ratio of underweight to overweight women was negative in the urban sample but not significant in others. This implies that ever married women were less likely to be underweight but not so generally.

There is an inverse association between the ratio of underweight to overweight women and age-group of women. The ratio was highest in the youngest, aged 22-28, and lowest in the oldest, aged 43-49. In the former, underweight women were three times as many as overweight women but in the latter just two-thirds.

Social obligations play an important role, particularly in eating pattern changes upon marriage that help gain weight. Besides, married people smoke less and exercise less, and are thus likelier to be heavy.

Sanitation

Sanitation and hygiene (for example, an indoor toilet, a safe drinking water facility and a kitchen with ventilation) are associated with lower ratios of underweight to overweight women as the risks of infectious diseases are lower especially those acquired by ingesting contaminated food or water, or other exposures in the environment.

The risk of overweight/obesity is considerably lower with higher ratios of female-to-male workers, implying that greater



opportunities for female employment are associated with greater physical activity and a lowering of the prevalence of overweight among women.

Media exposure is linked to more leisure and more frequent eating, and thus a higher risk of being overweight. Other evidence confirms this result but fails to substantiate these links.

Diet issues

Contrary to assertions that SES is key to the prevalence of underweight and overweight among women, our analysis suggests that the effects of relative food prices through dietary changes are larger. Although we find significant effects of the ratio of cereal to milk and milk product prices, cereal to vegetable prices, and cereal to edible oil prices, the commodity classification is not sufficiently detailed (for example, the nutritional effects of potato and leafy vegetables differ, as also of how they are cooked, boiled or fried). More generally, weight gain seen for specific foods and beverages arises from varying portion sizes, patterns of eating, effects on satiety, or displacement of other foods or beverages. Consumption of starches and refined grains is less satiating, increases hunger signals and total calorie intake, as compared with equivalent calories obtained from less processed food, and higher fibre foods that

also contain healthy fats and proteins. Other experimental evidence unravels a relationship between sleep, diet and obesity. Reduced sleep induces preferences for calorie-dense, refined-carbohydrate foods. Weight gain is lowest among persons who sleep six to eight hours a night and is higher among those who sleep less than six hours or more than eight hours.

Diseases

The health implications of being underweight and overweight are grim: underweight women are highly prone to risks of disease, disability and mortality. Besides, children born to them are more likely to be overweight or obese. Overweight and obesity elevate risks of non-communicable diseases (NCDs) such as heart disease, hypertension and adult-onset diabetes. However, given the rising burden of NCDs while that of infectious diseases remains high, and as India increases its focus on the health needs of overweight and obese people, it must address simultaneously the needs of the large number of severely undernourished people in society.

For Indian women, the pervasiveness of the malnutrition burden is matched only by the grimness of their existence and survival prospects.

(Courtesy :- Hindu)





Can we care more for people when they are alive?

• SATYA SUDHIR



What is the use of building an expensive tomb over the graves of parents and grandparents when all their life they lived in an old-age care centre, and not at home?

E | very year, November 2 is observed as 'All Souls' Day' in the Christian Calendar. This day people worldwide honour and remember in prayerful commemoration, the lives of the 'faithful departed' into the world of the dead. A solemn service of lauds or vespers is held in church where the names of those who died the previous year are read out and a moment of silence is observed in remembrance and gratitude to God for their lives and souls. After this, family members make a pilgrimage to the graveyard where they tidy the grave, light candles, place garlands or wreaths and pray for the souls of their loved ones.

At the time of death, in most cases, relatives ensure that burial is done in the best possible way. Mahogany or pinewood is used to make the casket with coffin trimming of the finest velvet and lace, and coffin furniture of shiny brass fittings. The tomb over the grave is built of brick and granite facing, with a stela or headstone engraved with the name, dates of birth and death and an epitaph. The inscription is usually a Bible verse, poem, quotation or just a few words in lament or praise of the deceased. The top of the gravestone bears the 'R.I.P' acronym for the Latin words, Requiescat in pace meaning 'Rest in peace'.

While some graves are flat and plain with just a simple cross at the head, others can bear additional embellishments like a false sarcophagus, allegorical sculptures, memento mori or marble statues of angels in grief, cherubs and doves.

A lot is done in sincere hope and an attitude of prayer for the departed to 'Rest in Peace', but today graves are being 'Ripped into pieces'. The graveyard has seen the emergence of a new genre of thieves Grave Robbers! Though graveyards do have a high wall enclosure and a sentry at the gate, they have become the haunt of not dead spirits but thieves, alive. Within minutes of the grieving relatives returning home after the burial, leaving construction of the grave to workmen, the grave robbers descend there. The grave, being fresh is easily re-dug and the brass fittings are removed from the casket and re-sold in the flea market. Garlands and bouquets are removed and re-sold again in the cemetery store. Expensive granite grave stones and marble statues find their way into the market to be re-sold. And, as if to hold honour among thieves, the booty is shared among all!

A few points to ponder, this All Souls' Day:

In spite of the graveyard being the last



place on earth I would like to find myself in after dark, it is the most peaceful place on earth before dark. For everybody is silent within the walls of the graveyard, both dead and alive. It is THE place for pondering. For here lie diverse people who in life were all different in appearance, status, ideologies and professions and yet united in death. The graveyard, being the storehouse of the dead on earth, is a focal point of lamentation, mourning and remembrance. As if in mockery of life as just a nugatory journey, it is the place where a person, after living a full life, goes from 'dust to dust, ashes to ashes'.

A person who in life joined the rat race for success, after death, lies still lowered into the ground. A person who was always in a hurry, lived the fast life, huffed and puffed to get his work done, pushed others in front of him and broke queues to get ahead, in death, lies still, silent awaiting for the final judgment of souls. In life a person who worked 24x7 to buy himself mansions, farms and land, lies in a coffin buried in an allotted 8'x4' space, 6' below the ground, for eternity. In life, a person who shopped endlessly to buy clothes to fill his wardrobe wears only a single attire in death. In life, a person who acquired fame by starring on the cover page of an illustrious magazine, lies with his face hidden, unseen below the ground. In complete contrast to the life outside its gates, the graveyard is devoid of 'who's who' titles, architect-designed shelters, SUVs, designer clothes or coveted diamond jewellery ... all material things we kill ourselves for to possess during the short and fleeting life on earth.

It serves as a reminder that living a life of selfish abundance is like chasing the wind. No matter what we do, while we are who we are in life, living where we live, who we live

with, in the end every person is equal in death, lying beside somebody else in a graveyard common to all.

I also do believe that while commemoration, remembrance and paying respect to the dead is very important, being compassionate and loving to those still alive around us is even more important. What happiness does a parent or grandparent profit with the most expensive bouquet of orchids and carnations to adorn his/her grave where he/she cannot see its colour, smell its fragrance or feel the love it imparts? What is the use of building an expensive tomb over the graves of parents and grandparents when all their life they lived in an old-age care centre, and not at home? Is there any gain in shedding countless tears and speaking words over graves of those who cannot hear, sympathise or appreciate them? A more meaningful gesture would be to felicitate our loved ones while they are with us, be it with flowers in love or in appreciation of what they mean to us. It could be a pending letter to a grandparent, a phone call or visit to a parent, a get-well wish to an ailing uncle, a bouquet to an aunt, a card to a friend or just a few words of appreciation and encouragement to a depressed colleague in office. Rather than being treated badly in life and then being buried in an elaborate grave that will only get 'ripped into pieces', our loved ones will 'Rest in peace' in a simple grave if all their living life they were treated with kindness, thoughtfulness and respect. I hope this year, All Souls' Day will be a day to honour not only the deceased but also those alive for, isn't it a futile effort to seek the living among the dead?

(Courtesy :- Hindu)





A healthy verdict for patient care

● DR. SUMANTH RAMAN

Wrong diagnosis, wrong drugs, wrong dosage, drugs given at wrong frequency, missed dosages and administering drugs which interact with each other are some of the major medical errors which, at times, prove fatal

The recent Supreme Court judgment in the Anuradha Saha case could well be a landmark verdict that has the potential to significantly improve healthcare delivery. It awarded a hitherto unheard of sum of Rs.5.96 crore as compensation to Dr. Kunal Saha, husband of Anuradha, who died as a result of medical negligence in 1998.

The judgment is significant for two reasons. First, it shows that the highest court in the land takes medical negligence seriously and is prepared to levy punitive fines for serious cases resulting in loss of life. This would surely embolden the lower courts also to levy stiffer penalties. Second, the very strong signal it sends out to the medical community on the need to reform its ways and pay more attention to patient safety. More such judgments will surely force the healthcare community to at least start adopting the much-needed patient safety measures.

According to statistics provided by the American Medical Association, medical

errors contribute to between 40,000 and 80,000 deaths each year in the United States. Other reports put the figure at as high as 1,80,000. Medical errors are believed to be directly and solely responsible for over 7,000 deaths each year. What is grudgingly agreed upon is that medical errors are emerging among the top 20 causes of death in the U.S.

If this is the situation in the U.S., where there are clear and defined standards of care and protocols to be followed and where there is a system of medical audit in place, one can well imagine what the situation is like in India. There are no estimates available of the number of patients being impacted by medical errors and we do not even have a system in place to measure them on a countrywide basis. Part of the problem is the fear of what might emerge should we start measuring and no one, least of all the government, is interested in opening a Pandora's box.

Medication errors

So where exactly do medical errors occur?



Well, for starters from the diagnosis. Very often the diagnosis is incorrect or delayed with serious consequences. The documentation of what's really wrong with you may also contain errors. The notes may carry wrong information which may be acted on by another doctor, leading to serious consequences. Medication errors are a major component of medical errors. The wrong drug being administered, wrong dosage of the drug being given, the drug being given at the wrong frequency, dosages being missed out, drugs which interact with each other being given, drugs to which the patient is allergic being administered, the list is endless.

Then we have the “never” events, those that should never ever occur, like patients being operated on the wrong eye or limb; sponges, scissors etc., being left in the body during surgery; food being pushed down the airway tube and medical equipment that doesn't work.

Hospital-acquired infections due to a lack of proper infection control systems is another major reason for adverse events. Hospital-acquired infections are believed to affect 5 - 10% of all patients admitted to hospitals in India but this number may be as high as 25% among patients admitted to Intensive Care Units. Hospital infections occur in the best of healthcare facilities in the world but to have the infection occur when all precautions are taken is one thing and to have them occur because infection control measures are not followed is quite another.

The complete lack of coordination among the various specialists treating patients is a

major reason for medical errors. It is very rare for all specialists to sit together and review the treatment plan and this not being done is often disastrous. The Joint Commission International says, in its annual report on Quality and Safety, that lack of communication between healthcare providers contributed to more than half of all adverse events.

There are enough systems available to enhance patient safety and minimise errors. Simple software applications can alert doctors about wrong dosage, drug-drug interactions, two different brand names of the same drug being administered, etc., but even India's top hospitals do not use them though they cost very little. The healthcare industry in India will not adopt such systems as they do not lead to an increase in revenue for the hospital or doctor though there is an overwhelming volume of evidence to show that they reduce errors and improve patient outcomes. So it becomes imperative for the government to insist that such safety systems be used.

In the absence of any government intervention, it is judgments like these that will introduce the fear factor in the medical community and force it to adopt patient safety systems.

The country owes a debt of gratitude to Dr. Kunal Saha. His relentless fight for more than 15 years has opened up the possibility of better healthcare for millions. If that happens, Anuradha Saha would not have died in vain.

(Courtesy :- Hindu)

□ □ □



Many strides in food security

• M. S. SWAMINATHAN

The foundational work done in the 1960s has made it possible for India to make access to food a legal right. But more needs to be done to sustain the progress.

This is one of the most significant years in India's agricultural and national history. At Independence in 1947, we were suffering from acute food shortages that led to the introduction of food rationing. Later, we started depending on imported food, largely under the PL480 programme of the United States, although the country's population then was only a little over 300 million. In 1966, the year Indira Gandhi became Prime Minister, India had to import nearly 10 million tonnes of foodgrains to ward off a famine.

BUILDING A RESERVE

In the latter half of 1966, Dr. Vikram Sarabhai and I went to meet Indira Gandhi to discuss issues relating to the use of remote sensing to map coconut root wilt disease in Kerala. She turned to me and asked: "How soon can we build a foodgrain reserve of 10 million tonnes?" It was clear she was worried about dependence on imported food to feed our population, a majority of them farmers and farm labourers. Also, it became clear to me later, that Indira Gandhi was convinced an independent foreign policy could be built only on a foundation of food security based on home-grown food. This led to her

determination to achieve food self-sufficiency as soon as possible, and to always maintain substantial grain reserves.

The relationship between food self-reliance and national sovereignty became evident when several important decisions became possible only because we had built up sufficient foodgrain reserves. Thus, India's assistance to Bangladesh in its liberation struggle, help to Vietnam to avoid famine following the unification of the country in 1975, and its ability to conduct nuclear implosion tests at Pokhran, were all possible only because it had become food self-reliant in the early 1970s. General Vo Nguyen Giap, who was largely responsible for Vietnam gaining freedom from France, and being unified, would tell me whenever I met him in Hanoi in the early 1980s, that Vietnam owes much to Indira Gandhi for saving it from widespread famine soon after unification. Indira Gandhi asked me to visit Vietnam in 1975 to develop a long-term strategy for food self-reliance. This led to India setting up a Rice Research Institute in the Mekong delta to assist in harnessing the untapped yield reservoir in rice in the delta. Today, Vietnam is a major



rice exporter.

The foundation laid by Indira Gandhi in the 1960s has now made it possible to make access to food a legal right. The transition from the ship-to-mouth existence of the 1960s to the Right to Food with home-grown food commitment, as enshrined in the National Food Security Act of 2013, is a historic one.

There is, however, no time to relax. The monsoon and the market are two major determinants of the fate of farmers, and we should do everything possible to insulate them from the adverse impact of both climate change and price volatility. The pathway to achieve these twin goals has been laid out in the reports of the National Commission on Farmers, submitted during 2004-06.

INSTRUMENT FOR INTEGRATION

Agriculture is a powerful instrument for national integration. Wheat and rice produced by Punjab farmers help feed many parts of India. Farmers everywhere have a common need, namely, opportunity for assured and remunerative marketing. They are willing to share their knowledge and expertise freely without thought of intellectual property rights.

Striking progress in improving the yield of crops in the early 1960s came from a shift in plant breeding strategy involving attention to the performance of populations rather than of individual plants. This emphasis on population performance led to a quantum jump in the yield of crops. Similarly, we need to assess our progress by using population performance as a yardstick to measure excellence. National integration is our heritage.

SELF-SUFFICIENCY

In mid-1968, Paul and Anne Ehrlich wrote in their book *The Population Bomb*: “Sometime between 1970 and 1985 the world will undergo vast famines hundreds of millions of people are going to starve to death. That is, they will starve to death unless plague, thermonuclear war, or some other agent kills them first. The United States should announce that it will no longer ship food to countries such as India, where dispassionate analysis indicates that the unbalance between food and population is hopeless.” Almost at the same time, in July 1968, Indira Gandhi released a special stamp titled the Wheat Revolution, thereby announcing that India had embarked upon the path of self-reliance in foodgrains through a revolutionary change in agricultural technology and policy. It is therefore a great privilege to receive an award bearing her name. Also, the purpose of the award is an area dear to my heart: a nation that is united in its commitment to the principles of non-violence, secularism, social and gender equity, self-reliance and love and respect for all. India has become the first nation in the world to make access to food a legal right. The right to information can be implemented with the help of files, but the right to food can be implemented only with the help of farmers.

(Edited excerpts from the acceptance speech delivered by Professor M.S. Swaminathan after receiving the Indira Gandhi Award for National Integration in New Delhi on October 31, 2013.)

(Courtesy :- Hindu)





Safety in food security

• V. R. KRISHNA IYER

While making grain available to all is important, it is equally essential to ensure that all food supplied for consumption remains unadulterated and uncontaminated.

When India became independent, the Constitution declared it to be a socialist, secular, democratic Republic. The first fundamental right under the Constitution sets down that every citizen has a right to life. This has been interpreted by the highest court as every citizen's right to a life in dignity, good health and free speech in a fraternity of communal harmony and national integrity. These rights are possible only if you are not starving, in the first place.

India has, according to some sources, some 400 million people living below the poverty line. Unless poverty is eradicated, our socialist credo will remain just a pretence. Medical facilities being made accessible to every little Indian is also an imperative. In a letter to Union Minister for Food, K.V. Thomas, I had underscored the importance of the recently enacted legislation that is meant to ensure food security, bringing crores of Indians within its ambit. Food security is one of the most important measures that should make the Indian socialist Republic a reality in the true sense of the term. Indeed,

the enforcement of the Food Safety Bill will constitute a perspective plan for the making of this socialist Republic.

Challenge of contamination

Still, food security, which seeks to end starvation, does not abolish food adulteration. Virtually all items of food in India have chemicals or adulterants added to them, which make them unsafe to various degrees. Therefore, every public institution where food is served must ensure that what is served is chemically safe, nutritionally healthy and makes for the health of the nation.

This means an organised system of inspecting the quality of food offered in public places. We should be under no illusion that even godowns where grain is kept for easy distribution have enough safety features incorporated in them.

The business of making food appear appealing and attractive often spoils the quality of what we eat. To make the nation healthy, every citizen must be able to buy food that is free from contamination. This will



involve a comprehensive process involving testing facilities or laboratories even in the villages. We must have a food safety project that makes what we eat wholesome. Food security cannot be guaranteed merely by the provision of a certain quantity of grain to each family but by ensuring that every grain that is distributed is wholesome and nourishing, and not noxious. The ideology of food safety is a composite one, beyond merely making grain available physically.

Needed measures

We must have a state-sponsored food safety foundation that has branches all across each State, with equipment that can test food safety. An empowered force of trained food safety personnel should visit eateries, food stores, even festival venues where food is served, and take action where adulteration or contamination is detected through scientific means. The food safety police must have suitable powers conferred on them under legislative sanction. There should be an Act that provides statutory instrumentality to thus ensure the health of the people. A safety police force operating under the Health Ministry with powers of seizure is a new concept that will require an

amendment to the Food Safety Act. Policing the process is a fundamental obligation of the state.

The destiny of India is as yet uncertain. Jawaharlal Nehru said in a celebrated speech: "The service of India means the service of the millions who suffer. It means the ending of poverty and ignorance and disease and inequality of opportunity. The ambition of the greatest man of our generation has been to wipe every tear from every eye. That may be beyond us but as long as there are tears and suffering, so long our work will not be over."

The Food Safety Bill has a serious shortcoming, and this must be corrected by means of suitable amendments and policy reformation. The prices of vegetables and other necessary commodities for food consumption keep rising and it is still not clear what the government is doing to control the trend.

To end starvation, the prices of all food commodities must be regulated. Real food safety is the have-not humanity's instrument of contentment.

(Courtesy :- Hindu)





India and climate talks imperatives

• T. JAYARAMAN

India needs an early agreement, and also adequate atmospheric “space” in terms of allowed carbon emissions to pursue its development goals. It needs to take a proactive stance on this

By all accounts, no dramatic developments are to be expected from the 19th edition of the Conference of Parties (COP) of the United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCCC) that started in Warsaw last week. But it is generally acknowledged that the key issue at Warsaw, even if there are many other significant subjects on the agenda, centres around moving forward the negotiations on the Durban Platform for Enhanced Action (DPA) initiated at COP 17 two years ago.

It is widely understood that the Durban Platform was a game-changer, setting the stage for decisive climate action based on clear commitments to emissions reduction from all nations. Subsequently, the discussions in the Ad-Hoc Working Group on the Durban Platform (ADP) have resulted in demanding timeline for achieving its aims, including a draft text to be produced by the COP in 2014, a global meeting of heads of states of all nations to be convened by the United Nations Secretary General to push forward such an agreement, and a final agreement to be reached by COP 21 in 2015.

While it is not a foregone conclusion that the DPA will achieve its stated goals by 2015, there are now additional factors conducive to reaching a global agreement. Even if no individual extreme climate event can be attributed exclusively to increased global warming, increasing awareness of the impact of climate-driven disasters, such as Typhoon Haiyan and the Uttarakhand flash floods, is contributing to a global recognition of the urgency of a climate deal, among governments as well as civil society. Significantly, the release of the Fifth Assessment Report (AR5) of the Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC) over the next several months, culminating in the release of the final synthesis report of all its findings next year, will add to the sense of urgency.

At the UNFCCC, the European Union has been the most active in pushing forward the agenda of the Durban Platform, laying out in increasing detail the framework and broad outlines of its content and a methodology for securing commitments that would ensure an effective treaty. It has been joined in this effort



It has not hesitated to support the European Union, the Africa Group and the Alliance of Small Island States (AOSIS) in their efforts to have a binding climate agreement with assigned commitments to all nations, especially when such commitments are to be imposed on China and India.

by many African nations, especially South Africa, and have the strong support of the island-states of the world support that was vociferously expressed at Durban in 2011. The United States has pursued a two-track policy with respect to the DPA. On the one hand, the U.S. insists that it would undertake only such emissions reductions as it deems feasible, a strategy that is referred to as the “bottom up” approach in the global climate discourse. On the other hand, it has not hesitated to support the European Union, the Africa Group and the Alliance of Small Island States (AOSIS) in their efforts to have a binding climate agreement with assigned commitments to all nations, especially when such commitments are to be imposed on China and India.

India's interests

Where do India's interests lie in the matter of a global climate agreement? There can be no doubt that India needs an early climate agreement, for two reasons. On the one hand, there is increasing evidence that unchecked global warming would lead to increasingly severe effects in several sectors, especially agriculture and water, apart from the increased frequency of extreme climate

events. The enhanced climate variability that accompanies global warming will have serious impacts on Indian farmers, the bulk of whom are small-holders who even today suffer the consequences of weather and climate shocks, before the effects of global warming have risen to more alarming levels. An early climate agreement with the potential to restrict global average temperature rise to at least 2 degrees Centigrade, if not lower, is certainly a necessity. An early and effective limit on greenhouse gas emissions will also contribute to lowering the need, and associated costs, for climate change adaptation, which otherwise could be considerable.

At the same time, India needs adequate atmospheric “space” in terms of allowed carbon emissions to pursue its development. Even in a highly optimistic scenario in which renewable energy rapidly takes up the bulk of the requirements for sectors such as domestic lighting and heating, agriculture, and all energy needs of small-scale establishments, India will still need fossil fuels for a considerable time until reliable sources of clean energy become available for large-scale use in the expansion of industry, transportation and the like, all of which are needed for development. Even infrastructure needs for adaptation will require such emissions.

The IPCC's AR5 report has brought to the centre-stage of discussion the notion of a global carbon budget, referring to the cumulative carbon dioxide emissions into the atmosphere, from the beginning of the industrial era till the end of the 21st century, that are permissible, if the global temperature rise is to be kept below 2 degrees C. For a 66 per cent probability of keeping the rise in



global average temperature below this limit, the world is allowed approximately 1000 billion tonnes of carbon emissions (taking account solely of carbon dioxide). But the nub of the issue is the equitable distribution of this space. In per capita terms, or indeed by several other measures of equitable distribution as well, the developed countries have already substantially exceeded their fair share of this global budget. As a consequence, a large number of developing countries, including China but especially India, will have to make do with less than their fair share of the global carbon space as their national carbon budgets for the future, if indeed global warming has to be kept in check.

‘Top-down’ agreement

To maximise the developing countries’ access to the global carbon budget, an early “top-down” agreement to impose constraints on the developed nations’ consumption of carbon “space” in the atmosphere is an obvious necessity. Even more obviously, an approach based on “voluntary” commitments to emissions reduction by developed and developing countries would not address India’s needs.

In view of these considerations, it is surprising that New Delhi’s guidelines for its Warsaw delegation should set aside India’s long-standing commitment to treating the atmosphere as a global commons, to be shared equitably by all nations, and instead back the “voluntary commitments” approach. Predictably, even before this approach has been articulated, it has run into rough weather. The EU is of course fully aware of the global carbon budget and hence demands that the gap between the sum of all voluntary commitments and the allowed

global budget has to be made up by further emissions reductions that all nations have to agree to. This demand, as well as India’s response that the gap must be made up by the developed nations based on historical responsibility for emissions, brings us back to what is indeed a “top-down” approach.

At the heart of the Government of India’s current confusion lies its unwillingness to acknowledge that in an eventual global agreement, all countries have to shoulder some part of the burden, even while any such burden-sharing must be based on equity and climate justice in accordance with the principle of common but differentiated responsibilities. New Delhi’s view currently is that developing countries will have no binding commitments whatsoever even into the future, a view that will increasingly isolate India from even others in the ranks of the G-77. The inadequacy of official India’s unhappy approach is brought out by the fact that it has allowed the term “equity reference framework” in the context of the ADP negotiations to be hijacked by other nations, including nations of the African Group as well as the EU. India and its like-minded friends are left in the unenviable position of opposing this term, claiming that developing nations will never undertake any binding commitment.

For too long, India’s official climate policy has portrayed the absence of a proactive stance on a climate agreement as a strategy to protect the country’s interests. Climate science as well as good climate politics demand that India shift to making clear to the world its commitment, in concrete terms, both to securing its developmental future as well as preserving the global environment.

(Courtesy :- Hindu)





Taking the stigma out of sex crimes

• VAISHNA ROY



Rape has always been seen as a stigma that only the woman victim has to bear. It is vital to change this perspective



As is inevitable, when a prominent case of rape or sexual assault dominates the mindscape of a society, a slew of collateral issues also comes to the fore. One that has raised its head this time has been the question of privacy. As with most news in today's age, the Tarun Tejpal incident too was first broken by social media, and relentlessly pursued by it as well. Without in any way condoning social media for its notorious lack of proportion and good sense, and the fact that it allows an all-too-easy platform for trolls, fanatics and idiots, it must be acknowledged that it plays an incomparable role when an incident or announcement of importance needs to be disseminated quickly and effectively.

In the Tejpal case as well, within hours, significant emails pertaining to the crime had been published. As each mail came into the public domain, more details became known. One major stream of the online and offline discourse that emerged was the fear that publishing the gory details of the crime would harm the young woman who had been subjected to the assault. As a response to this, within hours, the email that gave the most detailed rendering of the crime, written by the employee to Shoma Chaudhury, Managing Editor of Tehelka, was removed from the public space. It was an admirable, and possibly the first, instance of self-censorship

by what has hitherto been a rampantly uncontrolled social media.

REPORTING ON RAPE

Interestingly, however, the incident itself raises certain vital questions on how rape and sexual assault must be reported and discussed in online and offline media. One of the common assumptions made about rape reporting is that the details somehow further shame the victim, bringing her and her family into perpetual disrepute. It is argued, and justifiably, that the girl's future, her marriage, and her career are all jeopardised by the episode. The tendency therefore and it is motivated by the best of intentions is to use disinfected language and generic phrases to describe an incident that has perhaps been frighteningly toxic in reality. The disadvantage of this approach is that too many people then tend to underplay the episode.

Take the Tejpal case. The first emails through which everyone came to know of the incident was his mail to Ms Chaudhury recusing himself, and her mail to her colleagues explaining the recusal. The phrases used included "bad lapse of judgment," "misconduct," and "unfortunate incident." Sadly, it meant that the initial reaction to the incident was it was some kind of consensual episode gone wrong. When the lyricist Javed Akhtar got harshly criticised on



social media for appreciating Mr. Tejpal's recusal, he posted this apology: "I didn't know the gruesome details; thought it was drunken misbehaviour at a party."

This was equally true of most people's first assumptions. Many people, both men and women, initially made the easy assumption that the episode involved two drunken adults, both partially to blame. It took subsequent mails with the full details to actually give people a sense of how horribly wrong Mr. Tejpal's behaviour had been. Of course, what was stupid and unforgivable was the carelessness with which the sharing was done. The reporter's real name, the details about her father, Mr. Tejpal's daughter's name, the hotel's name all the facts that can help identify the victim could have easily been suppressed from the public domain without concealing the crime itself.

Unfortunately, that did not happen. And that's why social media laid itself wide open to the charge of prurience. Without dismissing the fact that there is an inordinately large number of people out there driven only by curiosity, it would be doing a great deal of disservice to the budding sense of outrage among ordinary Indians if we accused them all of prurience. In this and many other instances, they have acted as conscience builders and prodded the rest of society into thinking right.

VICTIM'S DOUBLE BURDEN

Rape has always been seen as a stigma that only the woman victim has to bear. It is vital to change this perspective. Thus, while lauding the reporter's courage to complain, it is equally important to laud her fearless decision to document every detail. The fear of being disgraced is one of the biggest

reasons sexual crimes go largely unreported by women. It must be unequivocally established that the only shame in these incidents belongs to the perpetrator, and that the victim can continue to walk tall in society. The overwhelming need to "hush it up," to take on the onus of the "disgrace," puts a huge double burden on the victim. Having been subjected to some of the most appalling abuse, the inability further to talk about it turns the balance hugely in the perpetrator's favour. It makes it fantastically easy for him to get away with lies and half-truths, with justifications, insinuations and character assassination.

It is not easy for victims of rape and sexual abuse to discuss the incident, but social and legal systems must make it easy for them. It is here that impartial and clinical reporting, whether in online or offline media, becomes of paramount importance. It must be established that rape is just another cowardly and contemptible crime such as armed assault. When a house-owner is bludgeoned on the head and robbed, the narrative serves only to confirm the seriousness of the crime and the culpability of the burglar. Such a narrative must be established for rape as well; where shame for the victim is removed from the equation and what's left are only the physical details themselves, for better or for worse. Only then will attitudes towards the victim become far less judgmental and only then will this convenient veil of secrecy be removed. Under its cover, too many men in significant positions of power are able to get away with impunity. Rape crimes, like bacteria, are best aired. Sunlight kills them.

(Courtesy :- Hindu)





Serving the justice needs of the poor

• N. R. MADHAVA MENON



To be able to deliver appropriate legal services to the rural and tribal communities, we need an alternative delivery system with a different model of legal service providers

Delivery of legal services to the rich and the corporate class is organised not through individual lawyers but through a series of networked law firms. These firms employ hundreds of lawyers and domain experts all over the country to provide highly specialised single-window services to their clients, of course at prices determined by the market. The middle class, which cannot afford their services, go to individual lawyers or publicly-funded legal aid services organised under the Legal Services Authorities Act. In this scheme of things, it is the poor and marginalised rural and tribal communities who are left out. They suffer injustice or seek justice through informal systems, including the so-called “khap panchayats.” It is this sort of situation prevailing in the countryside that provides a fertile ground for the exploitation of the poor and for the growth of extremist forces, undermining the rule of law and constitutional governance.

Myth of legal aid

The 1973 Expert Committee on Legal Aid, titled “Processual Justice to the People,” which eventually led to the enactment of the Legal Services Authorities Act, discussed the futility of the court-centric litigative aid to the poor and marginalised sections, and recommended a series of alternative strategies. Obviously, the emphasis was on legal empowerment and mobilisation, preventive and strategic legal services

intended to avoid victimisation, and the development of a public sector in the legal profession capable of responding to the problems of the rural and tribal communities. Unfortunately, when the legal aid law was enacted, the focus again was on assigning a lawyer to the needy client who took the task in a traditional style of protracted litigation with its attendant costs, uncertainty and delay much to the dismay of the poor. Moreover, the system was premised on three assumptions which were contrary to ground realities that the victim was aware of her rights and knew how to approach courts; that legal aid offices were available in far-flung villages and tribal settlements; and that the lawyer assigned had the right values, attitudes and competence to do a professional job appropriate to the justice needs of the rural/tribal population. These assumptions did not hold good in a majority of villages and, as such, conventional legal aid became irrelevant to the rural population. Language and communication compounded the situation, alienating the marginalised from a court-centric justice system. One alternative the Legal Services Authorities Act provided was the “Lok Adalat”, which lawyers disliked. The judges, honourable exceptions apart, turned it into an exercise to reduce arrears in courts through what some people call “forced settlements or hurried justice.”

Nonetheless, the Lok Adalat did serve the



cause of justice for those who could reach the court despite all the odds. For others, legal aid had very little to offer. The Supreme Court did help them in a big way in the 1980s and the 1990s through the instrument of public interest litigation (PIL), which later lost its importance because of wide abuse by the urban elite and vested interests. Although it is difficult to generalise the legal needs of the rural poor because of the diversity of population, the need for food, shelter, education, health and work are admittedly the priority. The Constitution has left it to the legislature and the executive to progressively realise these needs through laws, schemes and special measures.

At the same time, the Constitution promises to all its citizens equality of status and opportunity, as well as equal protection of the law. Finding that large sections of the poor are unable to fulfil their basic needs even after decades of democratic governance, the Supreme Court sought to interpret socio-economic rights (Directive Principles) as civil and political rights (Fundamental Rights), compelling the state to come forward with laws empowering the poor with rights enforceable under the law. The Right to Education Act, the Food Security Act, and the Employment Guarantee Act were promising initiatives in this direction. However, the poor continue to be at the receiving end of an indifferent administration because of the difficulties in accessing justice through conventional legal aid.

We, therefore, need an alternative delivery system with a different model of legal service providers in rural and tribal areas. How can one fix the land rights of the poor when they have neither 'pattas' nor other valid documents? How do water rights and forest rights get protected from exploitation? What

happens to government-sponsored schemes for food, sanitation, health and employment, aimed at alleviating the misery of the poorest of the poor? How to ensure that children are in school and are not abused and exploited? What can be done to prevent atrocities against the Scheduled Castes and the Scheduled Tribes in villages, and their forcible displacement? Where do they get credit for their livelihood activities and how are we to prevent victimisation in the process? Do they have fair market access for their produce? What happens to the biodiversity of rural and tribal areas? How best to preserve and protect traditional knowledge and other intellectual property rights of the rural poor? What about the labour rights of the unorganised rural poor? How are the rights of farmers to be protected against profit-hungry multinationals' monopoly on seed, fertilizer and pesticide business? Are the villagers being exploited by state agencies like police, forest officials, banks, revenue officials and mining lobbies with impunity because of the inaccessibility of the justice system? Why is it that the Gram Nyayalaya Act, supposed to extend quick and cheap justice to the rural poor, is neglected by lawyers and judges?

Need for an alternative

When these questions were raised in a professional development workshop recently at Bilaspur in Chhattisgarh, the consensus was that we need an alternative model of legal service delivery to rural and tribal communities, for which a new pattern of legal education needs to be developed. The mainstream law schools are not clear in their mission. Legal educators blindly follow the Bar Council-prescribed court-centric curriculum, producing law graduates unfit to serve the justice needs of the tribal and rural communities. With such advocates, even a



well-intentioned legal aid scheme cannot deliver justice to the marginalised sections.

The Bilaspur Workshop evolved a framework of an alternative LL.B. curriculum for the education and training of legal service providers, appropriate to rural and tribal needs. While the mandatory part of the B.C.I. curriculum is accommodated, the alternative model identified over 40 subjects relevant to rural needs to be included in the optional component of the curriculum. However, the workshop felt that the new type of legal service providers proposed under the alternative model is not distinguished on the basis of knowledge of law only, but in terms of a different set of skills, attitudes and values relevant to the rural/tribal communities. It was proposed that the final year of the five-year LL.B. programme be devoted to experiential learning through social justice and legal aid activities in rural areas under the supervision of NGOs, self-government authorities, collectorates, and legal aid committees besides law school professors. The experiential learning is through clinical courses developed by law schools for appropriate credits.

Lawyers' cooperatives

Students seeking to set up practice in rural areas will form themselves into what may be called lawyers' cooperatives or rural law firms, and train in advocacy before public bodies, administrative authorities, Gram Nyayalayas and regulatory agencies, besides courts and tribunals. They will be assisted by trained para-legals from among school dropouts and social activists of the area. The fee for each legal service will be fixed and notified by firms and they will be affordable. These rural law firms will be organised professionally on the lines of urban law firms in terms of technology and

quality of services. Cheap, prompt and reliable services will be the hallmark of rural law firms. The law school will give the successful candidates not only an LL.B. degree but also a diploma in rural legal practice, which will distinguish them from the rest. It will be the endeavour of law schools adopting this curriculum to assist the graduates to set up their practice in rural and tribal areas, organisationally and financially. Towards this end, the law school will approach the large urban law firms to extend their help as part of their corporate social responsibility. Besides, State governments and the National Legal Services Authority will be asked to give them subsidy in locating their offices in villages and recognising them as public defenders for identified services. Some law schools in Chhattisgarh, Jharkhand, Orissa, Madhya Pradesh and northeastern India have shown interest in adopting this model of legal education. The immediate problem, of course, is to find the right kind of teachers who can deliver under this alternative curriculum. To meet this challenge, there is a proposal to offer a one-year diploma in Law Teaching and Research to teachers of law schools in these States, with a view to augmenting the available resources. To conclude, the Bilaspur Declaration offers the hope that Indian legal education will turn round and look at the constitutional mandate on responding to the unmet justice needs of the large body of rural and tribal communities in the near future. Professions are, after all, for the people and no profession can survive without their trust and support. The earlier this is recognised by the organised Bar and the government, the better it will be for the country and the professions themselves.

(Courtesy :- Hindu)





EMPOWERMENT OF WOMEN THROUGH HUMAN RIGHTS EDUCATION: AN ANALYSIS

● KALPANA KUMARI

Human rights education, training and public information are, therefore, necessary and essential for the promotion and achievement of stable and harmonious relations among the communities and for fostering mutual understanding, tolerance and peace. Through the learning of human rights as a way of life, fundamental change could be brought about to eradicate poverty, ignorance, prejudices, and discrimination based on sex, caste, religion, and disability and other status amongst the people.

Abstract:

Every woman, man, youth and child has the human right to education, training and information, and to other fundamental human rights dependent upon realization of the human right to education. Equality of access to all levels of education is crucial to empowering women and girls to participate in economic, social and political life of their societies. Education unlocks a woman's potential, and is accompanied by improvements in health, nutrition, and well-being of women and their families. Human rights education, training and public information are, therefore, necessary and essential for the promotion and achievement of stable and harmonious relations among the communities and for fostering mutual understanding, tolerance and peace. Through the learning of human rights as a way of life, fundamental change could be brought about to eradicate poverty, ignorance, prejudices, and discrimination based on sex, caste, religion, and disability and other status amongst the people.

Human Rights Education serves as

means of understanding and embracing principles of human equality, dignity and commitment to respect and protect the rights of all. Once the people grasp human rights concept, they begin to look for their realization in their own lives, examining their communities, families and personal experiences through the human rights lens. This paper analyses the Empowerment of Women through Human Rights Education.

INTRODUCTION:

It is equally important for human rights education and strategies to identify human rights needs and to include access to information, opportunities for the expertise of rights, modalities and instrumentalities in identifying violation of human rights and further the needs to access to public discourse which may contest state / society Harrison that either no right exist or if it does no violation can be said to have occurred.

The draft plan of action for united nations decade for Human rights education 1995-2005 pustules the most critical notion that human rights education is a unique strategy for the "building of a universal culture of



The concept underpinning human rights education is that education should not only aim at forming trained, professional workers, but also at contributing to the development of individuals who possess the skills to interact in a society

Human Rights” through the “imparting of knowledge’s, skills and molding of attitudes”. It is comprehensive and goes beyond the 1974 Recommendation to include, all most all major Human Rights enunciation.

A prime function of Human Right Education is to seek to further effective democratic participation in the political economic, social and cultural spheres. And to be utilizing as a means of promoting economic and social progress and people centered sustainable development.

The basic purpose of development is to enlarge people’s choices. In principle, these choices can be infinite and can change over the time. People often value achievements that do not show up at all, or not immediately, in income or growth figures; greater access to knowledge, better nutrition and health services, more secure livelihood, security

against crime and physical violence, satisfying leisure hours, political and cultural freedoms and sense of participation of community activities.

The objective of development is to create an enabling environment for people to enjoy long, healthy and creative lives”. It is about creating an environment in which people can develop their full potential and lead productive, creative lives in accord with their needs and interests. People are the real wealth of nations. The concept underpinning human rights education is that education should not only aim at forming trained, professional workers, but also at contributing to the development of individuals who possess the skills to interact in a society.

Human rights education, human rights into education aim at providing pupils and students with the abilities to accompany and produce societal changes. Education is seen as a way to empower people, improve their quality of life and increase their capacity to participate in the decision-making processes leading to social, cultural and economic policies. Education for human rights helps people feel the importance of human rights, internalize human rights values and integrate them into the way they live. Education for human rights also gives people a sense of responsibility for respecting and defending human rights and empowers them, through learned skills, to take appropriate action.

EMPOWERMENT OF WOMEN:

Women’s empowerment, ideally speaking, means claiming and sharing equality with men. However, since men have certain natural advantages over women, they (men) are likely to dominate women in many spheres of life. The word ‘Empower’ means make one powerful or equip one with the



power to face the challenges of life, to overcome the disabilities, handicaps and inequalities.

Empowerment is an active multidimensional process, which should enable women to realize their full identity and powers in all spheres of life. It would consist in providing greater access to knowledge and resources, greater autonomy in decision-making, greater ability to plan their lives, greater control over the circumstances that influence their lives and freedom from shackles imposed on them by custom, belief and practice (Sapru, 1989).

Empowerment is a process of awareness and capacity building, leading to greater participation, to greater decision-making powers and control and to transformative action. According to Borain (2003), empowerment is the process of challenging existing power equations and of gaining greater control over the sources of power. The goals of women's empowerment are to challenge patriarchal ideology, to transform the structures and institutions that reinforce and perpetrate gender discrimination and social inequality, and to enable poor women to gain access to and control over both material and informational resources. The principle of gender equality is enshrined in the Indian Constitution in its Preamble, Fundamental Rights, Fundamental Duties and Directive Principles. The Constitution not only grants equality to women, but also empowers the State to adopt measures of positive discrimination in favour of women.

Within the framework of a democratic polity, our laws, development policies, Plans and programmes have aimed at women's advancement in different spheres. From the Fifth Five Year Plan (1974-78) onwards has



he goals of women's empowerment are to challenge patriarchal ideology, to transform the structures and institutions that reinforce and perpetrate gender discrimination and social inequality, and to enable poor women to gain access to and control over both material and informational resources



been a marked shift in the approach to women's issues from welfare to development. In recent years, the empowerment of women has been recognized as the central issue in determining the status of women. The National Commission for Women was set up by an Act of Parliament in 1990 to safeguard the rights and legal entitlements of women.

The 73rd and 74th Amendments (1993) to the Constitution of India have provided for reservation of seats in the local bodies of Panchayats and Municipalities for women, laying a strong foundation for their participation in decision making at the local levels. In India, the last quarter of the 20th century has been witness to a growing recognition of the place and relevance of human rights.



The evolution of property rights in a patriarchal system has contributed to the subordinate status of women. The Policy would aim to encourage changes in laws relating to ownership of property and inheritance by evolving consensus in order to make them gender Justice

NATIONAL COMMISSION FOR WOMEN:

National Commission for Women was established by statute in 1990; this was one of the consequences of the demand of women's groups that women be given a space in intervening on their own behalf. The National Commission for Women has, over the years: intervened where women's rights have been violated, as in the case of custodial rape, or where young women have been kept confined by their families to prevent them from going away with a man they choose to marry and live with; constructed laws, with regard to domestic violence for instance, to be lobbied for acceptance by parliament; held public hearings into the treatment of ousted-women affected. Conducted surveys, of women's views on the imposition of death penalty for rape. held consultations on a separate criminal code for women, for instance, or on the issue of cross-border trafficking; organized meetings to mount pressure on issues such as the reservation of seats for women in parliament and the legislatures;

Intervened in court cases, as where a woman was awarded the death penalty by the Allahabad High Court and an appeal was made to the Supreme Court.

Earlier there were certain social evils, practices, exploitation and crime against women. The human rights protected the interests of women against the following practices and evils by the society as under. Missing girls and women and force to women towards prostitution; Dowry Prohibition Act and crimes related to the dowry are protected; Protection from Domestic Violence, the case is registered under Section No. S498A of Indian Penal Code; Prevention of Sati Act was passed in 1987 to ban cruel practice like Sati act; Many of the stringent laws passed against child labour and child abuse; Sex selective abortion is made illegal;

The demand for prostitution to be recognized as 'sex work' has been raised, with dignity of the woman in prostitution as its basis. Girl trafficking is seen to be the sale and purchase of women and girls into prostitution is declared as criminal offense. Strict rules were passed to curb sexual harassment at workplace.

Even though there are strict rules, regulations and laws were passed to prevent atrocities on women, still there are increases of crime on women. The only solution to this problem is promotion of human rights education.

The human rights issues related to women were protected by providing reservations, privileges and executing strict rules, laws and regulations as under.

Judicial Legal Systems

Legal-judicial system will be made more responsive and gender sensitive to women's



needs, especially in cases of domestic violence and personal assault. New laws will be enacted and existing laws reviewed to ensure that justice is quick and the punishment meted out to the culprits is commensurate with the severity of the offence. At the initiative of and with the full participation of all stakeholders including community and religious leaders, the Policy would aim to encourage changes in personal laws such as those related to marriage, divorce, maintenance and guardianship so as to eliminate discrimination against women. The evolution of property rights in a patriarchal system has contributed to the subordinate status of women. The Policy would aim to encourage changes in laws relating to ownership of property and inheritance by evolving consensus in order to make them gender Justhice.

Decision Making

Women's equality in power sharing and active participation in decision making, including decision making in political process at all levels will be ensured for the achievement of the goals of empowerment. All measures will be taken to guarantee women equal access to and full participation in decision making bodies at every level, including the legislative, executive, judicial, corporate, statutory bodies, as also the advisory Commissions, Committees, Boards, Trusts etc. Affirmative action such as reservations/quotas, including in higher legislative bodies, will be considered whenever necessary on a time bound basis. Women-friendly personnel policies will also be drawn up to encourage women to participate effectively in the developmental process.

Mainstreaming a Gender Perspective in

the Development Process

Policies, programmes and systems will be established to ensure mainstreaming of women's perspectives in all developmental processes, as catalysts, participants and recipients. Wherever there are gaps in policies and programmes, women specific interventions would be undertaken to bridge these. Coordinating and monitoring mechanisms will also be devised to assess from time to time the progress of such mainstreaming mechanisms. Women's issues and concerns as a result will specially be addressed and reflected in all concerned laws, sectoral policies, plans and programmes of action.

Economic Empowerment of women

Since women comprise the majority of the population below the poverty line and are very often in situations of extreme poverty, given the harsh realities of intra-household and social discrimination, macro economic policies and poverty eradication programmes will specifically address the needs and problems of such women. There will be improved implementation of programmes which are already women oriented with special targets for women.

Steps will be taken for mobilization of poor women and convergence of services, by offering them a range of economic and social options, along with necessary support measures to enhance their capabilities In order to enhance women's access to credit for consumption and production, the establishment of new, and strengthening of existing micro-credit mechanisms and micro-finance institution will be undertaken so that the outreach of credit is enhanced.

Other supportive measures would be taken to ensure adequate flow of credit through



Globalization has presented new challenges for the realization of the goal of women's equality, the gender impact of which has not been systematically evaluated fully.



extant financial institutions and banks, so that all women below poverty line have easy access to credit. Women's perspectives will be included in designing and implementing macro-economic and social policies by institutionalizing their participation in such processes. Their contribution to socio-economic development as producers and workers will be recognized in the formal and informal sectors (including home based workers) and appropriate policies relating to employment and to her working conditions will be drawn up.

Such measures could include: Reinterpretation and redefinition of conventional concepts of work wherever necessary e.g. in the Census records, to reflect women's contribution as producers and workers. Preparation of satellite and national accounts. Development of appropriate methodologies for undertaking (i) and (ii) above.

Globalization has presented new challenges for the realization of the goal of women's equality, the gender impact of which has not been systematically evaluated fully.



However, from the micro-level studies that were commissioned by the Department of Women & Child Development, it is evident that there is a need for re-framing policies for access to employment and quality of employment.

Benefits of the growing global economy have been unevenly distributed leading to wider economic disparities, the feminization of poverty, increased gender inequality through often deteriorating working conditions and unsafe working environment especially in the informal economy and rural areas. Strategies will be designed to enhance the capacity of women and empower them to meet the negative social and economic impacts, which may flow from the globalization process.

In view of the critical role of women in the agriculture and allied sectors, as producers, concentrated efforts will be made to ensure that benefits of training, extension and various programmes will reach them in proportion to their numbers.

The programmes for training women in soil conservation, social forestry, dairy development and other occupations allied to agriculture like horticulture, livestock including small animal husbandry, poultry, fisheries etc. will be expanded to benefit women workers in the agriculture sector.

The important role played by women in electronics, information technology and food processing and agro industry and textiles has been crucial to the development of these sectors. They would be given comprehensive support in terms of labour legislation, social security and other support services to participate in various industrial sectors. Women at present cannot work in night shift in factories even if they wish to. Suitable



measures will be taken to enable women to work on the night shift in factories.

This will be accompanied with support services for security, transportation etc. The provision of support services for women, like child care facilities, including crèches at work places and educational institutions, homes for the aged and the disabled will be expanded and improved to create an enabling environment and to ensure their full cooperation in social, political and economic life. Women-friendly personnel policies will also be drawn up to encourage women to participate effectively in the developmental process.

SOCIAL EMPOWERMENT OF WOMEN

Equal access to education for women and girls will be ensured. Special measures will be taken to eliminate discrimination, universalize education, eradicate illiteracy, create a gender-sensitive educational system, increase enrolment and retention rates of girls and improve the quality of education to facilitate lifelong learning as well as development of occupation/vocation/technical skills by women. Reducing the gender gap in secondary and higher education would be a focus area. Sectoral time targets in existing policies will be achieved, with a special focus on girls and women, particularly those belonging to weaker sections including the Scheduled Castes/Scheduled Tribes/Other Backward Classes/Minorities. Gender sensitive curricula would be developed at all levels of educational system in order to address sex stereotyping as one of the causes of gender discrimination.

A holistic approach to women's health which includes both nutrition and health services will be adopted and special attention



A holistic approach to women's health which includes both nutrition and health services will be adopted and special attention will be given to the needs of women and the girl at all stages of the life cycle.



will be given to the needs of women and the girl at all stages of the life cycle. The reduction of infant mortality and maternal mortality, which are sensitive indicators of human development, is a priority concern. This policy reiterates the national demographic goals for Infant Mortality Rate (IMR), Maternal Mortality Rate (MMR) set out in the National Population Policy 2000. Women should have access to comprehensive, affordable and quality health care.

Measures will be adopted that take into account the reproductive rights of women to enable them to exercise informed choices, their vulnerability to sexual and health problems together with endemic, infectious and communicable diseases such as malaria, TB, and water borne diseases as well as hypertension and cardio-pulmonary diseases. The social, developmental and health consequences of HIV/AIDS and other sexually transmitted diseases will be tackled from a gender perspective.



The vast majority of rural women still depend on the locally available non-commercial sources of energy such as animal dung, crop waste and fuel wood.



To effectively meet problems of infant and maternal mortality, and early marriage the availability of good and accurate data at micro level on deaths, birth and marriages is required. Strict implementation of egistration of births and deaths would be ensured and registration of marriages would be made compulsory. In accordance with the commitment of the National Population Policy (2000) to population stabilization, this Policy recognizes the critical need of men and women to have access to safe, effective and affordable methods of family planning of their choice and the need to suitably address the issues of early marriages and spacing of children.

Interventions such as spread of education, compulsory registration of marriage and special programmes like BSY should impact on delaying the age of marriage so that by 2010 child marriages are eliminated. Women's traditional knowledge about health

care and nutrition will be recognized through proper documentation and its use will be encouraged.

The use of Indian and alternative systems of medicine will be enhanced within the framework of overall health infrastructure available for women. In view of the high risk of malnutrition and disease that women face at all the three critical stages viz., infancy and childhood, adolescent and reproductive phase, focussed attention would be paid to meeting the nutritional needs of women at all stages of the life cycle.

This is also important in view of the critical link between the health of adolescent girls, pregnant and lactating women with the health of infant and young children. Special efforts will be made to tackle the problem of macro and micro nutrient deficiencies especially amongst pregnant and lactating women as it leads to various diseases and disabilities. 6.7 Intra-household discrimination in nutritional matters vis-à-vis girls and women will be sought to be ended through appropriate strategies. Widespread use of nutrition education would be made to address the issues of intra-household imbalances in nutrition and the special needs of pregnant and lactating women. Women's participation will also be ensured in the planning, superintendence and delivery of the system.

Special attention will be given to the needs of women in the provision of safe drinking water, sewage disposal, toilet facilities and sanitation within accessible reach of households, especially in rural areas and urban slums. Women's participation will be ensured in the planning, delivery and maintenance of such services. Women's perspectives will be included in housing policies, planning of housing colonies and



provision of shelter both in rural and urban areas. Special attention will be given for providing adequate and safe housing and accommodation for women including single women, heads of households, working women, students, apprentices and trainees.

Women will be involved and their perspectives reflected in the policies and programmes for environment, conservation and restoration. Considering the impact of environmental factors on their livelihoods, women's participation will be ensured in the conservation of the environment and control of environmental degradation. The vast majority of rural women still depend on the locally available non-commercial sources of energy such as animal dung, crop waste and fuel wood.

In order to ensure the efficient use of these energy resources in an environmental friendly manner, the Policy will aim at promoting the programmes of non-conventional energy resources. Women will be involved in spreading the use of solar energy, biogas, smokeless chulahs and other rural application so as to have a visible impact of these measures in influencing eco system and in changing the life styles of rural women.

Programmes will be strengthened to bring about a greater involvement of women in science and technology. These will include measures to motivate girls to take up science and technology for higher education and also ensure that development projects with scientific and technical inputs involve women fully. Efforts to develop a scientific temper and awareness will also be stepped up. Special measures would be taken for their training in areas where they have special skills like communication and information technology. Efforts to develop appropriate technologies



Institutions and mechanisms/schemes for assistance will be created and strengthened for prevention of such violence, including sexual harassment at work place and customs like dowry; for the rehabilitation of the victims of violence and for taking effective action against the perpetrators of such violence.



suited to women's needs as well as to reduce their drudgery will be given a special focus too. In recognition of the diversity of women's situations and in acknowledgement of the needs of specially disadvantaged groups, measures and programmes will be undertaken to provide them with special assistance.

These groups include women in extreme poverty, destitute women, women in conflict situations, women affected by natural calamities, women in less developed regions, the disabled widows, elderly women, single women in difficult circumstances, women heading households, those displaced from employment, migrants, women who are victims of marital violence, deserted women and prostitutes etc.

All forms of violence against women, physical and mental, whether at domestic or societal levels, including those arising from customs, traditions or accepted practices



shall be dealt with effectively with a view to eliminate its incidence. Institutions and mechanisms/schemes for assistance will be created and strengthened for prevention of such violence, including sexual harassment at work place and customs like dowry; for the rehabilitation of the victims of violence and for taking effective action against the perpetrators of such violence.

A special emphasis will also be laid on programmes and measures to deal with trafficking in women and girls. All forms of discrimination against the girl child and violation of her rights shall be eliminated by undertaking strong measures both preventive and punitive within and outside the family. These would relate specifically to strict enforcement of laws against prenatal sex selection and the practices of female foeticide, female infanticide, child marriage, child abuse and child prostitution etc.

Removal of discrimination in the treatment of the girl child within the family and outside and projection of a positive image of the girl child will be actively fostered. There will be special emphasis on the needs of the girl child and earmarking of substantial investments in the areas relating to food and nutrition, health and education, and in vocational education. In implementing programmes for eliminating child labour, there will be a special focus on girl children. Media will be used to portray images consistent with human dignity of girls and women. The Policy will specifically strive to remove demeaning, degrading and negative conventional stereotypical images of women and violence against women. Private sector partners and media networks will be involved at all levels to ensure equal access for women

particularly in the area of information and communication technologies. The media would be encouraged to develop codes of conduct, professional guidelines and other self regulatory mechanisms to remove gender stereotypes and promote balanced portrayals of women and men.

GENDER SENSITIZATION

Training of personnel of executive, legislative and judicial wings of the State, with a special focus on policy and programme framers, implementation and development agencies, law enforcement machinery and the judiciary, as well as non-governmental organizations will be undertaken. Other measures will include:

- (a) Promoting societal awareness to gender issues and women's human rights.
- (b) Review of curriculum and educational materials to include gender education and human rights issues
- (c) Removal of all references derogatory to the dignity of women from all public documents and legal instruments.
- (d) Use of different forms of mass media to communicate social messages relating to women's equality and empowerment.

Panchayati Raj Institutions

The 73rd and 74th Amendments (1993) to the Indian Constitution have served as a breakthrough towards ensuring equal access and increased participation in political power structure for women. The PRIs will play a central role in the process of enhancing women's participation in public life. The PRIs and the local self Governments will be actively involved in the implementation and execution of the National Policy for Women at the grassroots level.



HUMAN RIGHTS EDUCATION:

Human Rights Education is an indispensable part of the right to education and has of late gained larger recognition as a human right itself. The knowledge of the rights and freedoms, of oneself as much as of the others, is considered as a fundamental tool to guarantee the respect of all rights for each and every person. The key stone of human rights education is that the education should not only aim at producing trained professional workers but also inculcating in them a sense of higher purpose. Human rights education aims at providing people and students with the abilities to accomplish and produce societal changes. Education is widely acknowledged and seen as a way to empower people to improve their quality of life and increase their capacity to participate in the decision making process, leading to desired transformation in the social, cultural and economic policies.

The concept underpinning human rights education is that education should not only aim at forming trained, professional workers, but also at contributing to the development of individuals who possess the skills to interact in a society. Human rights education, human rights into education aim at providing pupils and students with the abilities to accompany and produce societal changes. Education is seen as a way to empower people, improve their quality of life and increase their capacity to participate in the decision-making processes leading to social, cultural and economic policies. Education for human rights helps people feel the importance of human rights, internalize human rights values and integrate them into the way they live.

Education for human rights also gives



The key stone of human rights education is that the education should not only aim at producing trained professional workers but also inculcating in them a sense of higher purpose. Human rights education aims at providing people and students with the abilities to accomplish and produce societal changes.



people a sense of responsibility for respecting and defending human rights and empowers them, through learned skills, to take appropriate action. Human rights can be most effectively imbibed through a well thought out programme of education. In fact, education becomes purposive and relevant only when ingrained with human rights education. The task of human rights education can be focused at two distinct levels, namely (a) at the level of the imparters of primary, secondary and higher secondary education and (b) at the level of receivers of education.

NEED OF HUMAN RIGHTS EDUCATION FOR WOMEN:

The needs of human rights education for



women are stated as under.

- (i) Creating an environment through positive economic and social policies for full development of women to enable them to realize their full potential
- (ii) The de-jure and de-facto enjoyment of all human rights and fundamental freedom by women on equal basis with men in all spheres – political, economic, social, cultural and civil
- (iii) Equal access to participation and decision making of women in social, political and economic life of the nation
- (iv) Equal access to women to health care, quality education at all levels, career and vocational guidance, employment, equal remuneration, occupational health and safety, social security and public office etc.
- (v) Strengthening legal systems aimed at elimination of all forms of discrimination against women
- (vi) Changing societal attitudes and community practices by active participation and involvement of both men and women.
- (vii) Mainstreaming a gender perspective in the development process.
- (viii) Elimination of discrimination and all forms of violence against women and the girl child; and
- (ix) Building and strengthening partnerships with civil society, particularly women's organizations.

CONCLUDING REMARKS:

Due to the globalization, there is improvement in the status of women in education, employment and society. Also

there is increase in crime against women. This is so, because, there is lack of strict laws and even though there are laws, the crimes against women are increasing due to lack of knowledge about the human rights of women. Of course, today education improved in all respects. But our educational system does not cover human right aspects pertaining to the weaker sections such as disabled people, old aged, women, dalits, etc. There is need to emphasize the human right issues in education at different levels so as to curb inequality of women in the society and to prevent crimes against women.

REFERENCES:

1. Borain, M.P. (2003): Empowerment of Rural Women: Towards Reversal of Gender Relations. The Indian Journal of Social Work. Vol. 64 No. 4. Oct.2003.
2. Chatterji, Angana (1990): Women in Search of Human Equality. Social Action. Vol.40. 1990. P. 46-56.
3. Joshi, Sneha and Pushpanadham K.(2001): Empowering women for educational management. University News. Vol. 39. No.4. January 22, 2001 P. 1-4.
4. Sapru, RR (1989): Some determinants for Women's Development. IN: Women and Development. Edited by R.K. Sapru. New Delhi: Ashish Publishing House, 1989.
5. Shashi. S. Narayana (1998): Gender equality through reservation in decision-making Bodies. Social Action. 1998. P. 147.

●
writer is Research Scholar
AISECT University Raisen (MP)